

भारतीय मनोविज्ञान

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

आनंद कानन प्रकाशन

प्रकाशक :

श्री विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनंद कानन,
सीके० ३६/२०, वाराणसी-१
फोन : २६८३

मूल्य : एक रुपया मात्र

प्रथमावृत्ति
मार्च १९६८

मुद्रक :

ज्वालाप्रसाद मिश्र
आनंद कानन प्रेस,
सीके० ३६/२०, वाराणसी-१

विषय क्रम

• मन क्या है ?	१
• मन कैसे बनता है ?	५
• मन के विभाग	९
• मन की शक्ति	१३
• मनःशक्ति समान क्यों नहीं ?	१७
• व्यष्टि-मन और समष्टि-मन	२१
• मन के कार्य और दिव्य शक्तियाँ	२५
• मन पर भविष्य एवं अज्ञात वर्तमान का प्रभाव	२९
• दूसरों के मन से हमारे मन का सम्बन्ध	३३
• स्वप्न क्या है ?	३७
• स्वप्न की सत्यता	४१
• मन की गति का शृंखलित धर्म	४५
• वासना-प्रतिरोध के विषमजाल	४९
• मानसिक लिप्सा	५३
• वासनाओं का नाश नहीं : परिवर्तन	५७
• अभ्यास और दबाव	६१
• वैराग्य	६५
• मनोयोग	६९
• अध्यात्म और मन तथा मानसिक भ्रान्ति	७३
• कुछ विशेष	७७
• शब्दावली	८७

दो शब्द

निःसन्देह हिन्दी साहित्य के विशाल भण्डार में मनोवैज्ञानिक पुस्तकों की कोई कमी नहीं। सच तो यह कि आये दिन इस विषय पर अनेक ग्रन्थ, जिसमें कितने ही नये-नये शोधपूर्ण और विशालकाय भी होते हैं, प्रकाशन में आ रहे हैं और आये हैं। किन्तु उन सबका समग्र अवलोकन और आकलन सर्वसाधारण के लिए सम्भव और सुगम नहीं। यही सोचकर “आनन्दकानन प्रकाशन” अपने प्रथम पुष्प के रूप में शब्दों में स्वल्पकाय, पर भाव अर्थ में गम्भीर “भारतीय मनोविज्ञान” को प्रकाशित कर अपने प्रकाशन का श्रीगणेश कर रहा है।

यों तो यह पुस्तक बीस वर्ष पूर्व ही लिखी गयी, किन्तु मनोविज्ञान की अद्यतनीय उपलब्धियों की सम्पूर्ण सम्भावनाएँ लेखक की क्रान्तिदर्शी प्रतिभा से किसी भी प्रकार अछूती नहीं रह पायी हैं, कहना होगा कि यह पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है, जिसका प्रमाण पाठक ही अपने अनुभव से करेंगे। दो-एक बातें और ! बहिर्मन, अन्तर्मन, निर्णायकमन एवं सञ्चालकमन – मन के ये चार भाग क्रमशः मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार के ही अपर पर्याय हैं। ऐसा होते हुए भी इनकी कार्यशैली पर लेखक ने अपने ढंग से विचार प्रस्तुत किये हैं। इस विचारधारा को समझने में कठिनाई न हो, एतदर्थ यह नवीन नामकरण किया गया है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान अन्तर्मन एवं बहिर्मन – ये दो विभाग मान कर मनस्तत्त्व का विश्लेषण करता है। उसका उद्देश्य भौतिक अन्वेषण तक ही सीमित है, किन्तु भारतीय मनोवैज्ञानिक इसमें स्पष्टतः अपूर्णता देखता है। भारतीय मनोविज्ञान उसे मनोनिरोध द्वारा शाश्वत शान्ति की ओर प्रवाहित करता है। अतएव उसके विश्लेषण में विभिन्नता का होना स्वाभाविक ही है। इस दिशा में लेखक का यह प्रयास निश्चय ही सफल, श्लाघ्य एवं आदर्शपूर्ण है। एक बार पुस्तक पढ़ना आरम्भ कर बीच में उसे छोड़ने को

जी ही नहीं चाहता। अब हम इसकी कसौटी पाठकों पर ही छोड़ रहे हैं।

नव सम्बत्सर २०२५

– विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

मन क्या है ?

: १ :

हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, छूते हैं, सूँघते हैं, रस लेते हैं तथा कर्म करते हैं, उन कर्मों की प्रवृत्ति जहाँ से आती है, जो उनका स्मरण रखता है और जो उनके अच्छे बुरे का निर्णय करता है, उसे मन कहते हैं। कार्य-भेद से इसी मन के चार भेद शास्त्रों में किये गये हैं - मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियों को मन कहते हैं, निर्णयात्मक वृत्तियों को बुद्धि कहते हैं, संस्कारात्मक वृत्तियों को चित्त कहते हैं और अहंकारात्मक वृत्तियों को अहंकार कहते हैं।

पाश्चात्य सिद्धान्त में मन के दो या तीन भाग किये गये हैं। बहिर्मन और अन्तर्मन अथवा सैलानी और मुकामी मन। तीसरे भाग को वे नियन्ता मन कहते हैं (इन सबकी व्याख्या अगले अध्यायों में की जायेगी)। जो व्यक्ति कोई भी मानसिक साधना करना चाहता है, उसे प्रथम मनोविज्ञान को भली प्रकार समझ लेना चाहिये।

शास्त्रकारों ने मन अणु के बराबर बतलाया है और उसका निवास हृदय-देश में कहा है। मन को प्रभावित करने के लिये हृदय देश में ध्यान करना अत्यन्त श्रेष्ठ रहता है। हृदय से सीधा सम्बन्ध केवल मस्तिष्क का रहता है। मस्तिष्क से दो प्रकार के शिरोजाल शरीर में फैले हुये हैं। इनका फैलाव इतना सघन है कि शरीर में सुई की नोक बराबर भी स्थान इनसे खाली नहीं। इनमें से एक प्रकार के तन्तु संवेदन-वाहक होते हैं, किसी भी प्रकार का जब हम कोई विषय सम्पर्क में लाते हैं, तो ये तन्तु उसकी सूचना मस्तिष्क में पहुँचा देते हैं। दूसरे प्रकार के तन्तु आज्ञा-वाहक होते हैं। कोई भी संवेदना मस्तिष्क में पहुँचने पर, वह उसे हृदय तक पहुँचाता है और हृदय से मिली मन की आज्ञा को आज्ञा-वाहक तन्तुओं के द्वारा अंगों तक पहुँचा देता है। यह सब कार्य इतना शीघ्र होता

है कि हम उसमें अन्तर की कल्पना भी नहीं कर सकते।

मस्तिष्क के अतिरिक्त इन ज्ञान-तन्तुओं के मेरुदण्ड में तथा कई और स्थानों में भी छोटे-छोटे केन्द्र हैं। कभी-कभी शीघ्र आवश्यकता होने पर इन केन्द्रों से ही अंगों को कुछ गति करने की आज्ञा मिल जाती है। ऐसी दशा में अचानक हम ऐसा कार्य कर बैठते हैं जो अभीष्ट नहीं होता; जैसे किसी के सहसा चिल्ला उठने पर व्यक्ति चौंक पड़ता है। उस समय वह सूचना मस्तिष्क तक नहीं पहुँचती, हृदय तक पहुँचे और मन उस पर विचार कर उचित कार्य करे, इससे पहले ही आवश्यक समझकर मेरुदण्ड के केन्द्र अंगों को गति करने की आज्ञा दे देते हैं।

जितने भी ज्ञान-तन्तुओं के अतिरिक्त केन्द्र हैं, उनमें भूमध्य का केन्द्र अपनी एक विशेषता रखता है। इसका सीधा प्रभाव अन्तर्मन पर पड़ता है। चित्त पर प्रभाव डालने के लिये इससे अच्छा कोई केन्द्र नहीं है। ध्यान में दृष्टि का यहाँ संयम करने से चंचल मन एकाग्रता की ओर बढ़ता है और मानसिक शक्तियों के प्रयोग में प्रयोक्ता जिस पर प्रयोग कर रहा हो उसके इसी स्थान पर दृष्टि स्थिर करके आज्ञा देने से सफल होता है।

एक बात स्मरण रखनी चाहिये कि “मानस शास्त्र” में हम मन शब्द से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारात्मक अन्तःकरण समुच्चयमात्र का ग्रहण कर रहे हैं। अतएव केवल संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियों से हमारा अभिप्राय नहीं है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मन को ज्ञान, संवेदन और कृतिस्वरूप मानते हैं। वे एक अहंकार को नहीं मानते। जानना (संस्कार), कृति (संकल्प-विकल्प कर्म) और ज्ञान (निर्णय) – ये तीन रूप उन्हें अभीष्ट हैं। मन की समस्त क्रियाओं को वे क्षोभ, ज्ञान और इच्छा – इन तीन भागों में विभक्त करते हैं। किसी कर्म के लिए इच्छा, कर्म के स्वरूप का या परिणाम का ज्ञान और उसके लिये चेष्टा।

जो शक्ति जितनी सूक्ष्म होती है, वह उतनी ही प्रबल भी होती है। मन प्रकृति के समस्त तत्त्वों में सूक्ष्म है, अतः उसकी शक्ति समस्त तत्त्वों

से प्रबल है। यह समस्त विश्व मन की शक्ति का परिणाम है। विराट् का मन इस सृष्टि की रचना करता है ; जो कि व्यष्टि के मन से अभिन्न है।

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार यह समस्त दृश्य जगत्, उसके कार्य और स्वतः आपका शरीर ये कोई वस्तु नहीं। यह सब मन से निकला है, मन ने इसकी कल्पना कर ली है, इसीलिए यह इस प्रकार दृष्टिगोचर हो रहा है। मेस्मेरिज्म के द्वारा मनुष्य के मन में, किस प्रकार दूसरी प्रकार की कल्पना बैठाकर उसे विचित्र अनुपस्थित वस्तुएं दिखायी जा सकती हैं, यह जान लेने पर आप वेदान्त के इस सिद्धान्त को कुछ समझ सकेंगे।

किसी क्रिया या वस्तु का जो रूप हमें दीखता है और उसका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उस रूप और प्रभाव को हम पहले वैसा स्वीकार कर लेते हैं। यदि हम अटल भाव से मान सकें कि विष खाने से मनुष्य अमर हो जाता है तो निश्चय ही ऐसा होगा। आगे हम बतायेंगे कि किस प्रकार भावना उत्पन्न करके व्यक्तियों पर पदार्थों का विपरीत प्रभाव डाला जा सकता है। यह आश्चर्य की कोई बात नहीं, यह एक ध्रुव सत्य है।

सोचिये कि सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों को किसी ने मेस्मराइज कर दिया है। उसकी इच्छानुसार अनुपस्थित पदार्थ भी लोगों को वैसे ही दीख रहे हैं और वे लोग उन पदार्थों का अपनी समझ से उपयोग कर रहे हैं। वस्तुतः यह कल्पना नहीं - मूल सत्य है। उस जगन्नियन्ता की माया (मेस्मेरिज्म) से समस्त प्राणिवर्ग मोहित हो रहा है।

केवल एक अन्तर है - उसने अपनी इस मोहिनी विद्या की कुंजी जीवों के पास रख छोड़ी है। उसका सम्मोहनकारी मन हम में से प्रत्येक के मन में परिव्याप्त है। उस अपने मन का संयम करके हम इस सम्मोहन जाल से पार हो सकते हैं। वही मन हमारे सम्मोहन का मूल कारण है।

हमारे भीतर समस्त क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्ति का जो केन्द्र है, उसे हम मन कहते हैं। जो कुछ भी होता है उसी मन के द्वारा होता है, किन्तु अज्ञानी जन उसे किसी दूसरी अतिरिक्त शक्ति का कार्य समझ लेते हैं। विश्व में कुछ भी अप्राप्य नहीं है, क्योंकि सब कुछ हमारे भीतर है। उसका अभिव्यंजक हमारा अपना मन है।

इतना सब होने पर भी मन कोई स्थिर पदार्थ नहीं। संस्कार संततियों का वह अटूट प्रवाह है। अवश्य ही उसकी इस अनवरत गति के पीछे एक निश्चित एकरूप तत्त्व है और उसी के आधार पर मनोवृत्तियों का प्रवाह एक नियमित परिमाण एवं रूप में प्रवाहित होता है। जैसे नदी का जल स्थिर नहीं रहता, किन्तु उसके प्रवाह में भी जल का एक स्थिर आकार है और उसकी गति के पीछे एक नियत आधार है।

* * *

मन कैसे बनता है ?

: २ :

जिस मन की इतनी अपार शक्ति है और जिसकी शक्ति का उपयोग करना है, उसका निर्माण कैसे होता है, यह जान लेना आवश्यक है। यदि हम जान लें कि मन कैसे बनता है, तो उसके उपकरणों का संशोधन करके उसे शुद्ध एवं निर्मल बनाने में सरलता होगी।

दैवात् या भगवदिच्छा से प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ होने पर महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई। महत्तत्त्व के विकृत होने पर अहंकार उत्पन्न हुआ। अहंकार विकृत होकर तीन भागों में विभक्त हो गया - सात्त्विक, राजस और तामस। अहंकार के उसी सात्त्विक (वैकृत) अंश से मन की उत्पत्ति हुई।

मूल में मन सात्त्विक पवित्र है। यदि वह मूल में पवित्र न होता तो फिर उसके पवित्र होने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। कारण यह है कि वस्तु के मूलरूप को बदला नहीं जा सकता, पर उसमें आये विकारों को दूर किया जा सकता है। जैसे जल का मूल रूप मधुर है, पर अन्य वस्तुओं के संयोग से वह तिक्त, कटु, कषाय प्रभृति हो जाता है, ऐसे ही मन का मूल रूप सात्त्विक होने पर भी वह संस्कारों के संयोग से राजस और तामस हो गया है। इन बाहर से मिले विकारों को दूर करके मन को उसके मूल रूप में लाना है।

मन का वास्तविक रूप संस्कार-शून्य केवल सात्त्विक अहम् है। संग से उसमें संस्कार आते हैं। मनुष्य जैसा संग करेगा, ठीक उसी प्रकार के संस्कार उसके मन में आयेंगे। चोर का संग करने से चोरी के संस्कार और भक्त का संग करने से भक्ति के संस्कार। सत्संग का इसीलिये इतना अधिक महत्त्व है। इसमें भी बचपन में जो संस्कार हृदय पर पड़ता है वह

अत्यन्त दृढ़ता से जम जाता है। बाल्यकाल में जो संस्कार हम ग्रहण कर लेते हैं, उनका त्यागना असम्भव नहीं तो कठिनतम अवश्य हो जाता है।

जीव के प्राक्तन कर्मों के संस्कार तो होते ही हैं, माता-पिता के संस्कार उसे उनके रज-वीर्य के साथ मिलते हैं। आज रक्त शुद्धि का जर्मनी का आन्दोलन इसी आधार पर चल रहा है। माता-पिता के जैसे विचार, कम से कम गर्भाधान के समय के विचार, शिशु में आते ही हैं। गर्भ में आने के पश्चात् माता के कार्य एवं विचारों का संस्कार उस गर्भस्थ बच्चे पर पड़ना प्रारम्भ होता है। उस समय के संस्कार ही जीवन का निर्माण करते हैं।

उत्पन्न होने के पश्चात् बच्चे पर अपने सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु, क्रिया और व्यक्ति का संस्कार पड़ता है और इन्हीं संस्कारों के आदान-प्रदान में हम अपना जीवन समाप्त करते हैं। देखने, बोलने, छूने, खाने आदि के अतिरिक्त केवल पास रहने से भी संस्कारों का आदान-प्रदान होता है। आपके बिना जाने एक उच्च महात्मा आपके पास आ जायें, तो उसे बिना देखे और उससे बिना बोले भी आपका मन प्रसन्न हो उठेगा। ऐसे ही किसी पापी के आने से मन विक्षुब्ध होगा और उसमें विकार आने लगेंगे।

प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति में से उसके परमाणु बाहर बड़ी द्रुत गति से निकल रहे हैं और बाहर के परमाणु उसमें प्रविष्ट हो रहे हैं। प्रत्येक वस्तु अपने से बाहर एक विद्युत् सदा छोड़ती है और बाहर से विद्युत् ग्रहण करती है। डाक्टरों ने जांच करके बतलाया है कि साढ़े तीन वर्ष में पूरा मनुष्य शरीर बदल जाता है। इन बाहर जानेवाले परमाणुओं तथा विद्युत् धारा में, उस वस्तु या प्राणी के विचार-संस्कार विद्यमान होते हैं। जब हम किसी वस्तु या व्यक्ति के समीप पहुँचते हैं, तो अज्ञातरूप से उसके संस्कार इन परमाणुओं और विद्युत् के द्वारा हममें प्रविष्ट होते हैं तथा हमारे उसमें। इसीलिये शास्त्रीय क्रिया में विशेष-विशेष व्यक्ति और वस्तुओं का उपयोग या निषेध बताया गया है।

मन का मूलाधार उस भोजन के सूक्ष्मांश से बनता है जैसा भोजन

हम करते हैं। शरीर की प्रत्येक वस्तु सर्वदा क्षीण होती है और उसका अधिकांश भाग हमारे भोजन, पान एवं श्वास-प्रश्वास से पूर्ण होता है। भोजन से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद के शुद्ध भाग से वीर्य और शेष से अस्थि बनती हैं। इसी वीर्य सूक्ष्मांश से मन और बुद्धि का निर्माण होता है। मनुष्य जैसे अन्न का भोजन करेगा, उसका मन भी वैसा बनेगा। सात्त्विक आहार साधक के लिये इसीलिए अनिवार्य है। स्मरण रहे कि सड़ने, गन्दे होने, बासी होने, जूठे होने या अधिक भोजन कर लेने पर सात्त्विक आहार भी राजस और तामस हो जाता है।

मन भावनामय है, अतः अन्न के साथ जिस भावना का सम्पर्क होगा, उस भावना का मन पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। भोज्य पदार्थ देने वाला, देखने वाला, छूने वाला तथा और भी जिससे उसका कोई सम्बन्ध है, अपने भावों को उसमें प्रविष्ट करता है और वह भाव भोजन करने वाले के मन में पहुँचते हैं। जैसे यदि भोज्य पदार्थ चोरी से अथवा हिंसा से उपार्जित हैं, तो सात्त्विक होने पर भी उससे चोरी और हिंसा के संस्कार मन को मिलेंगे। यदि किसी ने पुत्रोत्पत्ति की कामना से अन्नदान किया है, तो भोजन करने वाले में काम विकार आयेगा। यदि अन्न पर दृष्टि डालने वाला उस पर लुब्ध होता है, तो मन में मोह और लोभ उत्पन्न होंगे। छूने से तो परमाणु सीधे भोजन में आते ही हैं।

साधक के लिये आहार शुद्धि एक आवश्यक अंग है। सबसे शुद्ध आहार अपने श्रम से पवित्रता पूर्वक उपार्जित किया होता है। ईमानदारी से उपार्जन सम्भव न हो तो किसी शुद्धाचरण वाले का दिया पदार्थ लेना चाहिये। आज जो लोगों के विचार इतने कलुषित हो रहे हैं, उसका एक कारण भोजन के सम्बन्ध की उच्छृंखलता भी है।

इन बातों के अतिरिक्त देश, काल और समष्टि का प्रभाव भी हमारे मन पर पड़ता है। जो स्थान अपवित्र है, वहाँ अपवित्रता के संस्कार होंगे। जिस घर में दो व्यक्ति तुरन्त झगड़ा कर चुके हों, उसमें प्रवेश करने वाले का मन अशान्त हो उठेगा, चाहे वहाँ उस समय कोई भी न हो। जहाँ की भूमि में कोई प्रबल अपवित्र संस्कार होता है, वहाँ बिना कारण

मन में विकार आने लगते हैं। यदि देश में युद्ध हो रहा हो तो एकान्त कमरे में भी हम शान्त नहीं रह सकते। विक्षुब्ध वायुमण्डल हमारे मन को अवश्य प्रभावित करेगा।

प्रकृति में समष्टि रूप से कभी रजोगुण, कभी तमोगुण और कभी सतोगुण का प्राबल्य रहता है। जब समष्टि में जिस गुण का उद्भव होता है, व्यष्टि मन पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। नक्षत्रादि ग्रह भी अपने-अपने प्रभाव अपने समय पर डालते हैं और हमारा मन उनसे प्रभावित होता है। शास्त्रों में इस आधार पर शुभ एवं अशुभ कालों का विवेचन किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों को आकाश में छोड़ रहा है। आकाश में अनन्त विचार भरे पड़े हैं जो निरन्तर अज्ञात रूप से हममें प्रविष्ट होकर हमारे मन को प्रभावित कर रहे हैं। जहाँ अधिक लोग एक विचार के हों, वहीं उनसे अलग रहने पर भी उनके विचार का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर पड़ता है। हम विश्व में व्याप्त विचारों से अछूते नहीं रह सकते।

इन बातों से सिद्ध हुआ कि हमारा मन केवल हमारे पूर्वकृत संस्कारों का परिणाम नहीं है। पूर्वकृत कर्म, वंशगत संस्कार, माता-पिता के विचार, माता की मनोदशा, अपने संग में आने वाले व्यक्ति, पदार्थ एवं क्रियाओं के संस्कार, देश, काल तथा समष्टि के संस्कारों को लेकर हमारे मन का वर्तमान रूप बना है।

* * *

मन के विभाग

: ३ :

प्रायः मन के दो भाग किये जाते हैं - बाह्यमन और अन्तर्मन। सरलता के लिये इन्हें मन और चित्त कहना ठीक होगा। अधिक स्पष्ट व्याख्या के लिये हम मन के चार विभाग करेंगे - बाह्यमन, संचालकमन, निर्णायकमन और अन्तर्मन। हम जब प्रायः किसी वस्तु या लक्ष्य का चिन्तन करने बैठते हैं, तो प्रायः वस्तु के सामने रहने पर भी मन अपनी अलग उधेड़-बुन में पड़ा रहता है। मन के इस भाग को बाह्यमन कहते हैं।

मन तो कहीं चला गया है, पर शेष अंग ठीक काम कर रहे हैं। मार्ग चलते समय कुछ सोच भी रहे हैं और पैर चलते भी जाते हैं। सोते समय मच्छर आदि के काटने पर हाथ अनजान में ही चलता है। रक्त की गति प्रभृति और श्वास आपके अनजान में ही चलती रहती है। इस भाग को संचालकमन कहते हैं।

मनुष्य का निर्णय उसके सामाजिक संस्कार और अध्ययन प्रभृति पर होता है। हमारे मन में जितने संकल्प-विकल्प उठते हैं और जितनी भावनाओं को हम ग्रहण करते हैं, उनमें से अधिकांश कार्य रूप में परिणित नहीं होतीं। उनमें से हित-अहित प्रभृति अनेक विचारों को देखते हुये कुछ ही कार्य में आती हैं। इन भावनाओं में से किसे दबा दिया जाय और किसे अभिव्यक्त किया जाय, यह कार्य मन के जिस अंश से होता है उसे निर्णायक मन कहते हैं, इसी का दूसरा नाम बुद्धि है। जो भावनाएँ दबा दी जाती हैं वे नष्ट तो होती नहीं, संस्कार रूप से वे भीतर पड़ी रहती हैं। इसी संस्कारात्मक भाग को अन्तर्मन या चित्त कहते हैं।

चित्त या अन्तर्मन के भी भाग होते हैं। एक जन्मान्तर के संस्कारों

का भाग और एक इस जन्म के संस्कारों का भाग। प्रायः देखा जाता है कि किसी विशेष रोग में अथवा मेस्मेरिक निद्रा में मूर्च्छित व्यक्ति ऐसी बातें करने लगता है, जो इस जन्म में उसके ज्ञातव्य से बाहर की हैं। कई बार ऐसा हुआ है कि सिर में चोट लगने पर व्यक्ति ऐसी भाषाएँ बोलने लगे हैं जो वे जानते नहीं थे। यह बात उनके प्राक्तन संस्कारों की हैं। चोट लगने पर, बाह्यमन के विक्षिप्त हो जाने से वह अन्तर्मन के मार्ग में बाधा नहीं दे पाता, अतः वह संस्कार ऊपर अभिव्यक्त हो जाते हैं। योगी योगसाधन के द्वारा बाह्यमन को शान्त करके चित्त के उन संस्कारों का अध्ययन करते हैं और इसके द्वारा पिछले जन्मों की बातें जान लेते हैं।

हम जिन संस्कार या भावनाओं को सामाजिक संकोच या अहित की दृष्टि से दबा देते हैं, वे नष्ट नहीं होतीं। वे मन के और गहरे प्रान्त में पहुँच जाती हैं। उनका प्रभाव क्या होता है, यह एक पृथक् अध्याय में बताया जायेगा। बेहोश होने पर, पागल होने पर, किसी रोग की मूर्च्छा में तथा ऐसी और किसी स्वप्न या नशे की हालत में, मनुष्य प्रायः इन्हीं दबाये हुये संस्कारों को कहता है। उस समय बुद्धि जो कि इनके प्रकट होने में रुकावट डालती है, विक्षिप्त रहती है, अतः ये अवसर पाकर प्रकट हो जाते हैं।

अश्रृंखलित भाव से प्राक्तन एवं वर्तमान जन्म के ये समस्त संस्कार भरे पड़े हैं। इनको श्रृंखलित करने से, संसार में मनुष्य एक आश्चर्यजनक रूप से शक्तिशाली हो जाता है। देव, मन्त्र एवं यौगिक शक्तियों के नाम पर जो कुछ भी किया जाता है, वह सब इसी मानसिक शक्ति का काम है, क्योंकि यह विश्व ही मन का कार्य है। मन से बाहर कोई शक्ति ही नहीं।

हम आगे मानसिक शक्तियों तथा उनके आश्चर्यजनक कार्यों का विस्तृत विवरण देंगे। इससे पहले हम यह बता देना चाहते हैं कि यह जादू या कोई धोखेबाजी नहीं। यह एक विज्ञान है, ठीक वैसा ही विज्ञान जैसे अन्य दूसरे विज्ञान हैं। परीक्षण-प्रयोग इसमें भी हो सकता है और इसमें भी कार्य-कारण सम्बन्ध है।

संसार में दो तत्त्व हैं - ज्ञान और क्रिया। समस्त विश्व को इन्हीं

दो तत्त्वों में विभक्त किया जा सकता है। मन का संस्कारात्मक भाग ज्ञान का केन्द्र है। समस्त ज्ञान जो कि व्यक्ति पाता है, इसी भाग से आता है। बाह्य अध्ययन आदि केवल उस ज्ञान को अन्तर्मन से बाह्यमन में ला देते हैं। प्रायः एक ही विषय के अध्ययन करने वाले दो व्यक्तियों में एक अत्यन्त पटु निकलता है और एक बहुत कम जान पाता है। लोक में इस शक्ति को प्रतिभा कहते हैं, जो जन्म से प्राप्त होती है। यह प्रतिभा प्राक्तन संस्कारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिस व्यक्ति में जिस प्रकार के प्राक्तन संस्कार अत्यन्त स्पष्ट हैं, वह उस विषय को शीघ्र ग्रहण कर लेता है। जिस व्यक्ति में उस प्रकार के संस्कार स्पष्ट नहीं, वह बहुत कम संस्कार अंकित करता है।

हम जितना जानते हैं, उतने ही संस्कार चित्त में हैं ऐसी बात नहीं। चित्त में पता नहीं कितने प्रकार के असंख्य संस्कार भरे पड़े हैं, जिनका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। मानसिक साधनों में जब कोई संस्कार प्रकट होता है तो साधारण लोग उसे अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त शक्ति का कार्य समझ लेते हैं। एक बात बिल्कुल निश्चित है कि कोई भी साधन, क्रिया, उस प्रकार के कार्य को नहीं व्यक्त कर सकती, जिसके संस्कार हमारे मन में न हों। प्रायः मन के प्राक्तन संस्कार भी वही अभिव्यक्त होते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति के विषय में पहले बाह्य मन ने एक रूपरेखा निश्चित कर ली हो। बाह्यमन में जिसके विषय में कोई धारणा नहीं, वह प्राक्तन संस्कार मन की बहुत गम्भीर अन्तर्मुख-वृत्ति होने पर प्रकट होता है। प्रायः इसी जन्म के वे संस्कार जो विस्मृति के गर्भ में जा चुके हैं, बाह्यमन के सम्मोहित होने पर ऊपर आते हैं।

जब भी हम कोई इच्छा, विचार या कल्पना करते हैं तो संचालक मन उसे ग्रहण कर लेता है और तत्काल उसका प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। उस विचार की दृढ़ता और उसकी अनुवृत्ति के अनुसार प्रभाव कम या अधिक हुआ करता है। “आकृति-विज्ञान” प्रकरण में और “मानसिक चिकित्सा” प्रकरण में हम इस संचालक मन का विवेचन विस्तार पूर्वक करेंगे।

बाह्यमन (मन) और निर्णायकमन (बुद्धि) - ये दोनों अनुज्ञाकारी होते हैं। इन पर संस्कार पड़ते-पड़ते, जैसा इनका स्वभाव बन जाता है, ये उधर ही अधिक प्रवृत्त होते हैं। इन पर किया हुआ कोई भी प्रयोग, सफल होने में श्रम और काल की अपेक्षा करता है। अन्तर्मन (चित्त) और संचालकमन (अहंकार) - ये दोनों आज्ञाकारी हैं। इनको जो भी आज्ञा दी जाती है, यदि वह आज्ञा सर्वथा ही इनके विपरीत नहीं, तो ये उसे ग्रहण कर लेते हैं और उसके अनुसार कार्य करते हैं।

बाह्यमन (मन) और निर्णायकमन (बुद्धि) अपने स्वभाव के संस्कार अन्तर्मन में ही रखते हैं। यदि बाह्यमन को सुप्त करके, कोई आज्ञा अन्तर्मन को दी जावे, तो जागृत होने पर बाह्यमन को उस आज्ञा के ही संस्कार मिलेंगे, तब वह उसी के अनुसार कार्य करेगा। आगे आने वाली मानसिक साधनाओं में यही विज्ञान काम करता है।

बाह्यमन (मन) की प्रतीति तो स्पष्ट है, क्योंकि वह स्वप्न में नहीं रहता, स्वप्न में अन्तर्मन (चित्त) की प्रतीति हो जाती है ; और ऐसे रोगों में, जब कि रोगी निद्रा की दशा में ही चलता है, पत्र या पुस्तकें लिखता है, निर्णायकमन (बुद्धि) की सत्ता बाह्यमन एवं अन्तर्मन से पृथक् सिद्ध हो जाती है ; किन्तु संचालकमन (अहंकार) की सत्ता केवल समाधि में ही प्रतीति हो सकती है, जब कि जीवित व्यक्ति की हृदय गति और नाड़ियों में रक्त की गति भी, उस दशा में रह नहीं जाती। समाधि का अर्थ है सम्यक् मनोनिरोध और जब मनोनिरोध की पूर्णता से श्वास तथा रक्त एवं हृदय की गति बन्द हो जाती है, तो यह स्पष्ट सिद्ध है कि निद्रा में जब ये चलते रहते हैं, अवश्य मन का कोई भाग जागृत रहता है। शास्त्र में यही अहंकार कहा जाता है और यह सुषुप्ति में भी जागृत रहता है। यही श्वासादि का संचालक है। समाधि में इसी अहंकार के निरोध से हृदय तक की गति बन्द हो जाती है। योरोपीय मनोवैज्ञानिकों के लिए समाधि की अवस्था ही कल्पनातीत है, इसी से वे मन के इस सूक्ष्मतम संचालक भाग “अहं” को उपलब्ध नहीं कर पाते।

मन की शक्ति

: ४ :

“यदि तुम दृढ़ विश्वास के साथ ऐल्प्स पर्वत को आज्ञा दो कि तू जा और रोम सागर में डूब जा, तो अवश्य तुम्हारी आज्ञा का पालन होगा।”
- जेम्स एलन

मन में कितनी अपार शक्ति है, इसका अनुमान हम उपरोक्त पाश्चात्य देशीय महापुरुष के वाक्य से लगा सकते हैं। विश्व एक शक्ति का विलास है और उस शक्ति का केन्द्र है हमारा मन। हम अपनी इस महान शक्ति से विमुख हो गये हैं, चिरकाल से इसका उपयोग न करने के कारण यह शक्ति सुप्त हो गयी है, बस हमारे समस्त संकटों का यही कारण है।

योग-साधन से शक्ति प्राप्त होती है, इसमें किसी को भी सम्भवतः कोई आपत्ति न होगी। अणिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, आकाश-गमन प्रभृति सिद्धियों का योग-ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन है। इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों सिद्धियाँ हैं। आप सोचिये कि ये शक्तियाँ आती कहाँ से हैं ? जो नहीं है उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह गीता का सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये शक्तियाँ हम में पहले से थीं। वे सुप्त अवस्था में थीं, यह दूसरी बात है। साधन ने उन्हें जन्म नहीं दिया, केवल उन्हें जागृत कर दिया।

साधन भी क्या होता है ? सभी साधनों का उद्देश्य होता है एक विशेष भावना को लेकर मन को स्थिर कर देना। जिस भावना को लेकर मन स्थिर होता है, वही शक्ति उसमें जागृत हो जाती है। साधन प्रधान नहीं, साधन के अतिरिक्त भी ऐसा हो सकता है। प्रधान है मन की एकाग्रता।

शास्त्रों में जहाँ भी सिद्धियों का वर्णन आया है, वहाँ केवल भावना को लेकर उस पर एकाग्र होने को ही प्रधानता दी गयी है। जैसे आकाश तन्मात्रा पर एकाग्र होने से आकाश-गमन सिद्धि प्राप्त होती है। उदाहरण को स्पष्ट करने के लिये प्राणायाम को ले लीजिये। प्राणायाम के द्वारा प्रायः सभी रोग अच्छे हो सकते हैं और उससे बहुत-सी सिद्धियाँ भी होती हैं, किन्तु प्राणायाम बिना मनःसंयम के होता ही नहीं। मान लीजिये कि एक प्राणायाम में भ्रूमध्य में प्राणसंयम बताया गया है, अब आप भ्रूमध्य में प्राणसंयम कैसे करेंगे? यही तो कि मन के द्वारा वहाँ प्राण के स्थिर होने की कल्पना करेंगे? यही कल्पना स्थिर होने पर सत्य हो जाती है, सचमुच प्राण वहाँ पहुँच कर स्थिर हो जाता है।

मन को छोड़कर आप प्राणायाम करने बैठिये। अच्छे से अच्छे अभ्यासी के लिये दो मिनट श्वास रोकना कठिन हो जायगा। अब प्राण को तो छोड़ दीजिये और मन को एकाग्र कीजिये। जितनी देर तक मन चंचल न होगा, स्वतः प्राण रुका रहेगा। बिना चेष्टा के पर्याप्त समय तक कुम्भक हो जायगा। मनःसंयम के द्वारा प्राणायाम करने के इच्छुक आरम्भिक साधकों के लिये यह अत्यन्त सरल है कि वे श्वास की गति का मन के द्वारा निरीक्षण करें। श्वास को न तो रोकने की चेष्टा करें और न चलाने की, पर मन को वहाँ से भागने न दें। वे देखेंगे कि निरीक्षण प्रारम्भ करते ही प्राण रुक जायगा और जब तक मन चंचल न हो, कुम्भक टूटेगा नहीं। इस प्रकार के प्राणायाम में कोई कष्ट भी नहीं होगा।

जब मन में काम या क्रोध की वासनाओं की प्रबलता हो जाती है, तो उस समय मन को स्थिर करना बड़ी टेढ़ी खीर हो जाता है। यदि मन को रोकने की इच्छा उस समय जागृत है तो अवश्य मन उन वासनाओं पर विजय पायेगा। ऐसे समय में आवश्यक यह होता है कि कोई प्रतिगामी भावना उठाकर मन को उधर मोड़ा जाय। किन्तु ऐसे समय पर प्रतिगामी भावना उठाना भी सरल नहीं होता। ऐसे समय के लिये अपना एक अनुभूत साधन है – जब भी काम या क्रोध की भावना आप में प्रबल हो उठे, संख्या के साथ “राम” नाम का जप कीजिये। जैसे – राम एक, राम दो, राम तीन ... इस प्रकार आप देखेंगे कि चालीस-पचास संख्या

तक पहुंचते-पहुंचते वह वासना नष्ट हो गयी है।

किसी भी वस्तु या भावना का हम पर जो प्रभाव पड़ता है, वह हमारे मन ने मान लिया है कि उसका हम पर ऐसा प्रभाव पड़ेगा ; हिप्नोटिज्म केवल मन में इस प्रकार की धारणा बैठाता है। साधारणतया सभी जानते हैं कि यदि रोगी को दवा या वैद्य पर विश्वास न हो, तो वह दवा लाभ नहीं करती। विश्वास होने पर घास-फूस भी लाभ करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि लाभ अपने भीतर की धारणा में है। बाह्य वस्तु तो केवल उपकरण का काम करती है।

एक डरपोक आदमी को अंधेरी रात्रि में कहीं कोई लकड़ी पैर में लगी और खरोंच आ गयी। उसने सोचा “सांप ने काट खाया।” वह बड़े जोर से चिल्लाकर भागा और गिरकर मूर्छित हो गया। उसके मन में यह विश्वास हो गया कि सांप ने काटा है। रक्त की गति वैसे ही बदल गयी, फल यह हुआ कि शरीर नीला पड़ गया और वह विष के लक्षणों से अभिभूत होकर मर गया।

दूसरे किसी आदमी को काले सांप ने काट खाया। उसने सोचा “मेंढक होगा”, संयोग से पास में एक मेंढक उछल पड़ा। विश्वास दृढ़ हो गया। मन में विष के विरुद्ध धारणा की। शरीर में थोड़ी गर्मी आयी, पर वह सोचता था “आज की थकावट का प्रभाव है।” फल यह हुआ कि विष पच गया और उसे पता भी न चला। मन की भावना का यह सुन्दर प्रमाण है। यह तो सभी जानते हैं कि अंधेरे में भूत-प्रेत की भावना करके डरपोक व्यक्ति डर जाता है और बीमार होकर कभी-कभी मृत्यु के पास पहुंच जाता है।

बात यह है कि जब बाहर की सभी वस्तुएँ हमारे मन से ही आयी हैं, हमारा संस्कार ही इस विश्व का निर्माता है, तो बाह्य पदार्थों की शक्ति भी हमारे भीतर से ही आती है। दृढ़ एवं अटल संस्कार होने के कारण हम अब उन वस्तुओं का वह प्रभाव मानने लगे हैं और उनका उपयोग करने पर भी प्रभाव न पड़ेगा यह असम्भव लगता है। आज हम सोचते हैं कि प्रह्लाद के लिए कैसे अग्नि शीतल हो गयी, वह समुद्र में क्यों नहीं

डूबे, उन्हें हथियारों से चोट क्यों नहीं लगी, पहाड़ से गिराने पर भी हड्डी-पसली क्यों नहीं टूटी, मीरा विष को कैसे पचा गयी ? पर हम यह भूल जाते हैं कि उनका कितना अटल विश्वास इन प्रतिकूलताओं पर विजय पाने के लिये था।

विश्व में यदि कोई भगवत्-शक्ति है तो वह है हमारी मनःशक्ति। प्रत्येक हृदय में वह शक्ति-सिन्धु विराजमान हैं, उनका अभाव किसी भी स्थान पर नहीं। किन्तु उनकी उस अपार शक्ति का प्रभाव व्यक्ति में होने के लिये उसमें दृढ़ मनोबल एवं अटूट विश्वास का होना अनिवार्य है। आप उसे आत्मविश्वास कहिये या भगवद्विश्वास, पर हमारा उद्देश्य तो यह है आप में उद्देश्य प्राप्ति में तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिये। विघ्न-बाधाओं पर विजय पाने का दृढ़ विश्वास होना चाहिये। विश्वास एवं दृढ़ मन की शक्ति ही विश्व की शक्ति है। जिसके पास अटूट मनोबल है, उसके कोष में असंभव जैसा कोई शब्द नहीं।

* * *

मनःशक्ति समान क्यों नहीं ?

: ५ :

मन सभी के पास होता है और सभी मनों में परमात्मा का प्रकाश प्रस्फुटित होता है, फिर भी एक व्यक्ति की मनःशक्ति अधिक है और एक की कम। प्रश्न होता है कि यह विषमता क्यों ?

एक व्यक्ति एक साधन करने बैठता है तो बहुत शीघ्र सफल हो जाता है और दूसरा व्यक्ति लाख सिर पटकने पर भी सफल नहीं होता। इसका मुख्य कारण है मन की निर्मलता। जिस व्यक्ति का मन जितना निर्मल होगा, उसका मन उतना ही अपने लक्ष्य में एकाग्र होगा। साधन सफलता एकाग्रता पर निर्भर करती है।

जो व्यक्ति दृढ़ निश्चयी है, जिसके हृदय पर बचपन से निर्भीकता और आत्मविश्वास के संस्कार पड़े हैं, साथ ही जो कोई ऐसा काम नहीं करता है जिससे मनोबल का नाश हो, वह किसी भी मानसिक साधना में शीघ्र सफल हो जायेगा। बचपन के तथा प्राक्तन संस्कारों के अतिरिक्त आहार-विहार एवं संग का भी मन पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। भोजन एवं संग का मन पर कैसे प्रभाव पड़ता है, यह अगले अध्यायों में बताया जायगा। अतः जिसे भी मानसिक साधना करनी हो वह पहले मनोबल प्राप्त करे। दृढ़ एवं प्रबल निश्चय से साधन करने पर सभी पुराने संस्कारों पर विजय पाना सम्भव है।

जो लोग शंकालु हैं, जिन्हें बात-बात में सन्देह हो जाया करता है, जो अपने पर विश्वास नहीं करते और सदा दूसरों से आशा करते हैं, जिनके आचरण शुद्ध नहीं, वे कुछ समय के लिये संयत होकर साधन करें भी, तो उसमें सफलता नहीं होती। यदि सफलता होती भी है तो बहुत देर में।

जिसमें विश्वास की मात्रा जितनी अधिक होगी और जो त्याग के लिये जितना अधिक उद्यत होगा, वह उतनी ही मानस-शक्ति का सम्पादन कर सकेगा। उदाहरण के लिये एक दृष्टान्त से समझिए -

एक राजपूत नरेश आखेट के लिये वन में जा रहा था। उसने मार्ग में देखा कि एक ब्राह्मण बिल्व के पेड़ के नीचे अग्नि में बिल्व फलों की आहुति दे रहा है। वह उसे देख कर जंगल में चला गया। जब शाम को लौटा, तो उसे वह ब्राह्मण वैसे ही हवन करते मिला। नृपति ब्राह्मण के पास गया और पूछने लगा - “आप यह क्या कर रहे हैं?” ब्राह्मण ने उत्तर दिया - “राजन! मैं एक दीन-विप्र हूँ। धनाभाव के कष्टों से ऊबकर यहाँ अग्नि देवता की आराधना में लगा हूँ। जब मेरी आहुतियों से अग्निदेव प्रसन्न हो जायेंगे तो कुण्ड में से स्वर्ण के बिल्व फल निकलेंगे। मुझ अभागे को कई दिन आहुतियाँ देते बीत गये, पर अभी तक देवता प्रसन्न नहीं हुए।”

राजा ने कहा - “अच्छा, एक बेल मुझे दो, मैं आहुति देकर देखूँ कि देवता मुझसे प्रसन्न होते हैं या नहीं।”

ब्राह्मण बोला - “नृपति! मैं स्नान, संध्या, आसनादि करके, पवित्रता से, सविधि मन्त्र-पूर्वक आहुति दे रहा हूँ। इतने पर भी देवता प्रसन्न नहीं हुए। आप अभी वन से आये हैं, आपके शरीर में पशुओं का रक्त लगा हुआ है, आप पवित्र नहीं और मन्त्र भी नहीं जानते। फिर आप एक ही आहुति में देवता को प्रसन्न करने की कैसे आशा करते हैं?”

राजा ने कहा - “मुझे बेल दो और परीक्षा करने दो।” ब्राह्मण को उनकी बात माननी पड़ी। राजा ने बेल हाथ में लेकर मन ही मन संकल्प किया - “यदि देवता प्रसन्न न हुए तो दूसरी आहुति मेरे सिर की होगी।” आहुति पड़ते ही कुण्ड में से साक्षात् अग्निदेव प्रकट हुए और बहुत से स्वर्ण-बिल्व भी निकले।

दृष्टान्त का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रबल निश्चय, मानस-शक्ति को आविर्भूत कर देता है और शंका तथा संकोच की भावना उसमें बाधा देती है।

पाश्चात्य देशों में परलोकगत आत्माओं को बुलाने के लिये, जिनके बुलाने की पद्धति हम आगे लिखेंगे, माध्यम होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति माध्यम नहीं हो सकता और माध्यमों में भी समान शक्ति नहीं होती। कोई चित्र हो सकता है, कोई साक्षात् दर्शन करा सकता है और किसी को मेज के खटकों पर ही सन्तोष करना पड़ता है। माध्यमों के विषय में कहा जाता है कि यह शक्ति जन्म से ही होती है, जैसे प्रतिभा जन्म से होती है। जैसे ठोक-पीटकर कोई कवि नहीं बनाया जा सकता, वैसे ही माध्यम भी नहीं बनाया जा सकता।

प्रतिभा और मनोनिग्रह की शक्ति दोनों जन्म से आती हैं। माध्यम में मनःसंयम की शक्ति होती है। यह मानना कि उसमें कोई अलौकिक शक्ति है, एक भ्रान्त धारणा है। जिस माध्यम में जितनी अधिक मनःसंयम की शक्ति होगी, वह उतना ही अधिक अपने कार्य में सफल होगा। एक ही माध्यम में जब मन चंचल और स्थिर हो, तो सफलता और असफलता का तारतम्य हो जाता है।

यद्यपि यह बात सच है कि प्रतिभा और मनोबल अधिकांशतः प्राक्तन संस्कारों से प्राप्त होते हैं, पर ऐसा कोई कारण नहीं कि साधन के द्वारा उन्हें पाया न जा सके। निश्चयपूर्वक साधन व्यक्ति को कवि और माध्यम दोनों बना सकता है। हम इन साधनों का वर्णन एक स्वतन्त्र अध्याय में विस्तारपूर्वक करेंगे।

जड़ में शक्ति नहीं होती, पर जड़ चेतन से शक्ति ग्रहण करके शक्तिवान हो सकता है। जैसे दर्पण में प्रकाशक शक्ति नहीं, पर दर्पण सूर्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करके दूर प्रकाश फैक सकता है। समस्त प्रकृति और प्राकृत वस्तुएं जड़ हैं। उनमें शक्ति नहीं। वे चेतन परमात्मा से शक्ति लेकर चेष्टित होती हैं।

ग्रहण करने वाला पदार्थ जितना सूक्ष्म और निर्मल होगा, वह उतनी ही अधिक शक्ति का ग्रहण कर सकेगा। जैसे सूर्य का प्रकाश समान रूप से पड़ने पर भी दर्पण उसे ग्रहण कर लेता है और पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि नहीं। इस प्रकार परमात्मा के सर्वव्यापक होते हुए भी, प्रकृति का

सूक्ष्म एवं स्वच्छ अंश मन ही उनकी शक्ति को ग्रहण कर पाता है। स्थूल पंचभूतादि उसे ग्रहण नहीं कर सकते। यदि ग्रहण करते भी हैं तो नाममात्र को।

प्रकाश को वह दर्पण ही अच्छी प्रकार ग्रहण करेगा, जो निर्मल होगा। जिस दर्पण पर जितना अधिक मैल जमा होगा, वह उतना ही कम प्रकाश ग्रहण करेगा। अतः मन जितना निर्मल होगा, उतनी ही उसमें परमात्मा की शक्ति प्रकट होगी। जिसके मन पर विषय-वासनाओं का जितना अधिक मैल, विकार है, उसके मन में उतनी ही अल्प शक्ति का आविर्भाव होता है। व्यक्तियों की मनःशक्ति के तारतम्य का कारण उनके मन की निर्मलता का तारतम्य है।

यदि हमें पूर्ण शक्ति प्राप्त करनी है, यदि हमें सम्पूर्ण मनोबल की आवश्यकता है, तो मन को विषयों से हटाना होगा। संयमी, पवित्र और सदाचारी जीवन बिताते हुये सात्त्विक साधनों के द्वारा, मन के पुराने मैल को स्वच्छ करना होगा।

* * *

व्यष्टि-मन और समष्टि-मन

: ६ :

चेतनता व्यापक है, यह कहने की अपेक्षा यह अधिक सत्य है कि सब चेतन ही है। जड़ की प्रतीति उसी चेतन में हो रही है। जैसे फेन जल होने पर भी जल से भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही जड़ चेतन होने पर भी चेतन से भिन्न प्रतीत होता है।

चेतन में जड़ की प्रतीति होने पर उसके भिन्न-भिन्न केन्द्र बनते हैं और फिर उनका संघीभाव होता है। ये केन्द्र अपने में चेतना को अभिव्यक्त करते हैं। हम जितने स्थूल पदार्थ देखते हैं वे ऐसे छोटे-छोटे केन्द्रों के संघीभाव हैं। जैसे हमारे शरीर का गठन असंख्य नन्हें-नन्हें कीटाणुओं के संगठन से हुआ है। ये कीटाणु चेतन होते हैं और इनका गठन भी इनसे छोटे चेतन कीटाणुओं के समूह से होता है। इस प्रकार यदि हम बराबर विभाजन करते जायें तो देखेंगे कि यह पृथक्ता और जड़ता केवल भ्रम मात्र है। मूल में तो केवल एक और अखण्ड चेतन-शक्ति है।

जब चेतन को अभिव्यक्त करने वाले छोटे-छोटे जड़ कण (जीव) अपना संघ बनाते हैं, तो उतना वह संघ भी चेतनता ग्रहण कर लेता है, और वही चेतनता संघगत समस्त छोटे कणों का संचालन करती है। जैसे हमारा शरीर बना तो है बहुत से कीड़ों के संघ से, पर उस संघ में स्वतः प्राण (चेतना) अभिव्यक्त हो गयी, जिसे हम जीव कहते हैं। इसी जीव की मानस-शक्ति के द्वारा शरीर के सारे कीटाणुओं का संचालन होता है।

संघ बनाने वाला जीव, संघ की चेतना के पराधीन होता है। शरीर का कीटाणु हमारी मानस-शक्ति के पराधीन है। शारीरिक नियमों के वश में रहते हुए वह अपनी कार्य-सीमा में तो चेष्टा कर सकता है, किन्तु उससे

बाहर कुछ नहीं कर सकता। उसके मामूली नियमों में हम इच्छा-मात्र से परिवर्तन कर सकते हैं। उसके भरण-पोषण का भार भी शरीर के मन पर है। कीटाणु कुछ नहीं कर सकता यदि हम उपवास करें। जीव के लिये यही कर्म के सिद्धान्त हैं। शरीर के कीटाणु के दृष्टान्त को स्मरण रखिये, उसे हम समष्टि में लाकर स्पष्ट करते हैं।

जो व्यष्टि में है, वही समष्टि में भी। जैसे छोटे कीटाणु का संघ हमारा शरीर है, ऐसे ही समस्त प्राणियों का संघ यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर का शरीर है। जैसे कीटाणुओं के संघ में आविर्भूत चेतना उसका संचालन करती है, वैसे ही ब्रह्माण्ड की चेतन सत्ता ब्रह्माण्ड का। उसी चेतना को हम ईश्वर कहते हैं। शारीरिक कीटाणुओं की भाँति हम अपने कार्य क्षेत्र में व्यवहार करने को स्वतन्त्र हैं, किन्तु नियम का उल्लंघन करते ही हमें दण्ड भी भोगना होगा। हमारे भरण-पोषण का दायित्व भी उसी समष्टि चेतन पर है। “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन” का यही रहस्य है।

अपनी मानस-शक्ति को जागृत करके जैसे हम शरीर में यथेच्छ अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन कर सकते हैं, वैसे ही ईश्वर ब्रह्माण्ड के विषय में सर्व समर्थ है। यदि कोई अणु शरीर में विकृत हो जाये तो तुरन्त मनःशक्ति दूसरे अणुओं के द्वारा उसे ठीक करती या निकाल देती है अथवा दूसरे रूप में बदल देती है। ठीक ऐसे ही विश्व में उत्पत्ति एवं उच्छृंखलता उत्पन्न करने वालों को अनेक निमित्तों से उस चेतन शक्ति के द्वारा दण्ड या मृत्यु प्राप्त होती है।

शरीर में एक मन होने के अतिरिक्त ज्ञान-तन्तुओं का एक विस्तृत जाल है और इन तन्तुओं के अनेक केन्द्र भी हैं। मन इन तन्तुओं एवं केन्द्रों के द्वारा ही साधारण अवस्था में कार्य करता है। हम पिछले अध्याय में बता आये हैं कि केन्द्र स्वतः भी आवश्यकता पड़ने पर कार्य करते हैं। कोई बहुत विशेष अवस्था उत्पन्न होने पर ही, मन किसी विशेष अंग में परिवर्तन के लिये संयत होता है। विश्व में इन ज्ञान-तन्तुओं और चेतना केन्द्रों का कार्य देवताओं के द्वारा होता है। आवश्यकता पड़ने पर

देवता स्वतन्त्रतः भी कार्य करते हैं। विशेष अवस्था में ईश्वरीय शक्ति का अवतार भी होता है।

अब अधिक अच्छी प्रकार आप समझ सकेंगे कि यह विश्व ईश्वर की माया है। ईश्वर उस माया (अपनी मनःशक्ति) के अधीश्वर हैं और हम उसके परतन्त्र हैं। विश्व है भ्रम अवश्य, पर वह भ्रम हमारी अविद्या ने नहीं उत्पन्न किया है। हम “सब चेतन हैं” इस ज्ञान का अपरोक्ष साक्षात् करके भी विश्व के दृश्य-पदार्थों का अभाव नहीं कर सकते। वे तब भी हमें उसी रूप में दीखेंगे, जिस रूप में आज दीख रहे हैं और तब भी हमें उन्हीं नियमों में चलना होगा, जिनमें आज चल रहे हैं।

शरीर का कोई कीटाणु जैसे अपने व्यवहार में आने वाले रस को अपना मान ले और उसकी रक्षा, वृद्धि आदि की चिन्ता करके दुःख उठाये, वैसे ही विश्व के पदार्थों को अपना मानकर हम उनके लिए कष्ट पाते हैं। “यह मेरा है, और यह दूसरे का है” – बस यही अविद्या है। जीव के साथ यही अविद्या रहती है। ज्ञान के द्वारा इस अविद्या का निराकरण करके – यह जानकर कि इन वस्तुओं पर किसी का अधिकार नहीं, नियन्ता की इच्छानुसार यह प्राप्त होती तथा नष्ट होती हैं, हम क्लेश से छूट सकते हैं। ज्ञान का यही मूल उद्देश्य है।

समष्टि के प्रतिकूल व्यवहार करने से ही व्यष्टि में विकार आते हैं। यदि व्यष्टि अपने को समष्टि के अनुकूल छोड़ दे और उस धारा में स्वभावतः प्राप्त अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करता रहे, तो स्वतः उपरोक्त ज्ञान का वह अनुभव प्राप्त कर लेगा। उसे कष्टों एवं प्रतिकूलताओं से अपने आप सुरक्षा मिलेगी। शक्ति तथा सुख उसकी अपनी वस्तु होंगे।

व्यष्टि की मानसिक शक्ति, समष्टि की मानसिक शक्ति से सम्बद्ध है। जैसे ही हम अपने अन्तर में प्रवेश करने में सफल होते हैं, उस महाशक्ति से एक हो जाते हैं। हममें उस अनन्त शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। किन्तु यदि हम उस मनःशक्ति का दुरुपयोग करें, तो हमें उसका घोर परिणाम भोगना होगा।

कोई कितना भी शक्ति सम्पन्न हो जाये, पर उसकी शक्ति बस

महाशक्ति से सीमित ही रहेगी। जब भी वह उसका अतिलंघन करने की चेष्टा करेगा, प्रतिकार पायेगा। देखा गया है कि इसी उद्दण्ड चेष्टा के कारण मनःशक्ति सम्पन्न बड़े-बड़े महान पुरुष पागल हो गये या मृत्यु की भेंट हुये हैं। मानसिक शक्ति के साधक को कहीं भी अहंकारवश उच्छृंखल नहीं होना चाहिये। उसे स्मरण रखना चाहिये कि उससे भी महान् एक शक्ति है जो उसका नियन्त्रण करती है।

यदि कोई मानसिक प्रयोग पूर्ण प्रयत्न करने पर भी सफल न हो, तो उसके लिए अतिरिक्त चेष्टा नहीं करनी चाहिये। ऐसी अतिरिक्त चेष्टा से शारीरिक क्षति होती है। समझना चाहिये कि कोई अज्ञात शक्ति बाधा दे रही है। कोई भी ऐसा प्रयोग नहीं करना चाहिये जिससे समष्टि के शासन में हस्तक्षेप होता हो।

ग्रहों की गति, समष्टि में गुणों की प्रधानता तथा प्रकृति के मूल नियमों को जानकर उनके अनुकूल रहते हुए साधक बहुत शीघ्र सफल होते हैं और महान कार्यों के करने में समर्थ भी हो जाते हैं। समष्टि जिस समय प्रयोग के अनुकूल न हो, उस समय प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे समष्टि में तमोगुण की प्रधानता हो, तो सात्त्विक प्रयोग उस समय रोक देना चाहिये।

* * *

मन के कार्य और दिव्य शक्तियाँ

: ७ :

प्रकृति के गर्भ में अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। न्यूटन के शब्दों में “हम एक महासमुद्र के किनारे भटकने वाले शिशु हैं, जो पुलिन पर पड़ी सीपों को पाकर प्रसन्नता से उछल पड़ता है।” हम जिन शक्तियों का अभी तक पता पा सके हैं, सब उस अगाध शक्तिसागर के एक सीप के तुल्य हैं।

आज चाहे हम इसे अज्ञान भले कह दें, किन्तु एक युग वह भी था जब लोग कुछ असंबद्ध शब्द पढ़कर रोगी को रोग-मुक्त कर लेते थे। आप उसे उनके विश्वास का प्रभाव कह लीजिये या मन्त्र-शक्ति, पर वह एक शक्ति थी जो अब हमारे पास नहीं है। हममें न तो उतना विश्वास ही है और न हम उन मन्त्रों को ही जानते हैं। फलतः डाक्टरों की जेब भरने के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं। आज भी ऐसे छोटे-मोटे उस प्राचीन विद्या के उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे बिच्छू का विष दूर कर देना, सर्प को बुला लेना आदि।

आचार्य कौटिल्य जैसे लोगों ने औषधियों के साथ मन्त्रों का आश्रय लिया है। उनके अर्थशास्त्र में इन मन्त्रों को कोई भी देख सकता है। चरक और सुश्रुत से वैद्यकों के प्रामाणिक ग्रन्थों में तथा ज्योतिष ग्रन्थों में भी मन्त्र-शक्ति का वर्णन मिलता है। स्वतन्त्र मन्त्र-ग्रन्थों की तो संस्कृत साहित्य में भरमार है।

महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में सिद्धि प्राप्त करने के लिये कई साधन बताये हैं ; मन्त्र, औषधि, तपस्या, योग और जन्म से स्वतः सिद्धि होती है। मन्त्र के विषय में हम ऊपर कह चुके। शेष चार में से योग तो प्राणायामरूप है और उसका अर्थ है सीधे मन को प्रभावित करना। तीन

पर विचार करेंगे।

बहुत सी ऐसी औषधियाँ होती हैं जो शरीर या बाह्य वस्तुओं में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन कर देती हैं। कौटिल्य ने कुछ विचित्र औषधियों का वर्णन भी किया है। औषधि प्रयोग से कोई ऐसी रासायनिक क्रिया होती है जो शरीर या वस्तु को अपने अनुकूल परिवर्तित कर देती है। औषधि की शक्ति मानने में कोई विवाद नहीं।

तपस्या का अर्थ होता है जानबूझकर कष्ट उठाना। यदि हमारे शरीर में कहीं ताप हो तो उसे दूर करना पड़ेगा। इसके लिये मन से या औषधि से वहाँ विशेष शक्ति पहुँचानी पड़ेगी। इसी प्रकार विराट् प्रभु के इस शरीर रूपी विश्व का कोई प्राणी जब अपने आप को अनियमित (प्रारब्ध न होने पर भी) संतप्त करने लगता है तो विश्व में क्षोभ हो जाता है। शरीर में एक स्थान पर ताप हो तो दूसरे भाग शान्त नहीं रह सकते। फलतः विश्व नियन्ता विशेष शक्ति प्रदान करके उसे शान्त करता है।

जन्म से ही मन का ऐसा आविर्भाव हो कि वह सूक्ष्म शक्तियों को ग्रहण कर सके तो जन्म से भी सिद्धि हो सकती है। कोई सिद्ध पुरुष कृपा करके किसी को सिद्धि दे दे अर्थात् अपनी शक्ति के प्रयोग से उसके मन को सिद्धि ग्रहण करने के योग्य बना दे, तो भी पुरुष में विशेष शक्ति आ जाती है।

कोई भी क्रिया हो, पर शक्ति आती मन के द्वारा ही है। चाहे तपस्या से मन को निर्मल बनाने से आये, चाहे औषधि से मन को प्रभावित किया जाये, चाहे मन्त्र जप से मन वैसा बने, चाहे जन्म से मन की वैसी स्थिति हो, प्राणायाम से इस प्रकार मन में परिवर्तन हो जाये या कोई दिव्य शक्ति या महापुरुष अपनी शक्ति से मन को पात्र बना दे। मन के पात्र हुये बिना कुछ नहीं हो सकता।

साधना का अर्थ है मन को स्थूल दशा से सूक्ष्म दशा में पहुँचाना। हम पहले बता आये हैं कि विश्व के कार्य संचालन के लिए अनेक दिव्य शक्तियाँ हैं, जैसे हमारे शरीर में बहुत से ज्ञान-तन्तु या ज्ञान केन्द्र। सबके मूल में एक अखण्ड चित् शक्ति व्याप्त है। मन सूक्ष्मता की जिस स्थिति

में पहुँचता है, समष्टि के उस स्तर की शक्ति से उसका सम्बन्ध हो जाता है, मन में उस शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

उदाहरण के लिये रेडियो का यन्त्र समझ लीजिये। यन्त्र के बटन को, हमें जितनी दूरी के शब्दों को सुनना है, उतने के मीटर नम्बर पर कर देते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि यन्त्र की स्थिति हम ऐसी कर देते हैं कि वह उतनी दूर के शब्द को ग्रहण करे। शब्द तो सभी व्याप्त होते हैं और सभी यन्त्र के समीप रहते हैं। इसी प्रकार मन को हम जिस स्थिति में पहुँचाते हैं, वह उसी स्तर की शक्ति से संयुक्त हो जाता है।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, अतः इसके प्रत्येक कार्य भी त्रिगुणात्मक हैं। परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी शक्ति त्रिगुण से परे नहीं। दिव्य शक्तियों में कोई सात्त्विक, कोई राजस, कोई तामस और कोई मिश्र गुणों से युक्त है। जिस शक्ति से सम्बन्ध करना होता है, मन को उसी प्रकार का बनाना पड़ता है। तामसिक कार्यों से तामस शक्तियाँ प्राप्त होती हैं और स्थूल होने के कारण उन तक गति भी शीघ्र होती है।

हम मन को जिस दिव्य शक्ति से सम्बन्धित करते हैं, मन भी वैसा ही हो जाता है। फल यह होता है कि मृत्यु के उपरान्त हमें उसी शक्ति का सान्निध्य मिलता है। घोर शक्तियों के उपासकों की घोर गति होती है। भूतों के उपासक भूत और देवों के उपासक देवता होते हैं। आर्षशास्त्रों ने इसीलिये तामस साधन एवं तामस शक्तियों की निन्दा की है और उन्हें त्याज्य बतलाया है।

दिव्य शक्तियाँ परमात्मा की ही शक्तियाँ हैं और सृष्टि में उनका अपना विशेष कार्य है। अपने कार्य में आवश्यकता पड़ने पर, वे उपयुक्त पात्र पर कृपा करके विशेष शक्ति प्रदान भी करती हैं। साधन के द्वारा किसी शक्ति के कार्य में सहायता करके उसकी प्रसन्नता का सम्पादन भी किया जा सकता है। यदि किसी के द्वारा किसी शक्ति के अधिकार में हस्तक्षेप या उसके कार्य में अड़चन पहुँचती हो, तो वह दण्ड देती है और साधन में बाधा भी उपस्थित करती है।

एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिये - तामस से राजस, राजस

से सात्त्विक और सात्त्विक से भी गुणहीन (परमेश्वर) की शक्ति महान् है। तामस से उत्तरोत्तर गुण सूक्ष्म होते हैं और जो जितना सूक्ष्म होगा, वह उतना ही महान् भी। तामसिक शक्ति या तामसिक शक्ति प्राप्त साधक, राजस शक्ति और राजस शक्ति के साधक का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। राजस शक्ति सात्त्विक पुरुष को प्रभावित नहीं कर सकती और जो प्रभु के भक्त हैं, उस जगदाधार की शरण हैं, उनके सम्मुख सभी शक्तियों को झुकना पड़ेगा। कोई भी भौतिक या दिव्य शक्ति उनका अनिष्ट करने में समर्थ नहीं।

मन में स्वतः भी अनेक शक्तियाँ हैं, क्योंकि अनन्त वह भी तो, विश्वेश का व्यष्टि में प्रतिनिधि है। फल यह होता है कि कौन सा कार्य विशुद्ध मानस-शक्ति से हुआ और किसमें दैवी शक्तियों का कार्य साहचर्य है, यह निर्णय करना सरल नहीं रह जाता। पर यदि मनुष्य केवल अपने मन को ही पवित्र करे, तो स्वतः उसे समस्त दिव्य शक्तियों का सहयोग मिलेगा और मन के पूर्णतः निर्मल होने पर तो उसमें स्वयं परम प्रभु का आविर्भाव होगा, जो सदा के लिये पुरुष को इस भवताप से विमुख कर देगा।

* * *

मन पर भविष्य एवं अज्ञात वर्तमान का प्रभाव

: ८ :

प्रायः यह अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होगा कि आने वाली आपत्तियों के पहले ही मन विकल हो जाता है। ऐसा लगता है कि कोई मन को चंचल कर रहा है। सहसा अकारण भीति एवं अनिष्ट की कल्पनाएँ उठने लगती हैं। इसी प्रकार आने वाले शुभ कार्य के पहले मन प्रसन्न हो जाता है। ऐसी बहुत-सी घटनाओं का वर्णन इतिहास में आता है कि पत्नी ने आशंका से भीत होकर अद्भुत ढंग से (जैसा वह सदा नहीं करती थी) पति को बाहर जाने से रोका और उसके आग्रह की अवहेलना करने पर पति पर आपत्ति आयी।

भविष्य की घटनाओं के अतिरिक्त मन अज्ञात वर्तमान की सूचना भी देता है। हमारा कोई प्रिय सम्बन्धी विदेश में हो और वहाँ उस पर कोई आपत्ति आ जाये, तो अकस्मात् यहाँ हमारा मन आकुल हो उठेगा। किसी सम्बन्धी की विदेश में मृत्यु होने पर तो अवश्य ही उस व्यक्ति के दूरस्थ सम्बन्धियों के मन में उदासी छा जाती है। मन कहीं लगता नहीं, कोई कार्य प्रिय नहीं लगता। बार-बार चित्त रोने या एकान्त में भाग जाने को चाहता है। ये बातें सर्व-साधारण के अनुभव में आती हैं।

सृष्टि में कोई काम सहसा और अशृंखलित नहीं होता। प्रत्येक क्रिया अपने नियम से और क्रमवार होती है। जब कोई महान् परिवर्तनकारी कार्य होना होता है तो उसकी भूमिका पहले से प्रस्तुत होने लगती है। आँधी आने के पूर्व हवा बन्द हो जाती है, फिर शब्द होता है और पहले हल्का झोंका आता है। इसी प्रकार समस्त क्रियाओं के क्रम हैं। यह दूसरी बात है कि मानव अपनी कृत्रिम क्रियाओं के द्वारा प्रकृति से दूर जा पड़ा है, अतः वह उन सूचनाओं का अनुभव नहीं कर पाता। चींटी, मकड़ी आदि वर्षा की सूचना बहुत पहले पा जाती हैं। दूसरी प्राकृतिक

सूचनाओं को भी पशु-पक्षी अनुभव करने लगते हैं।

मन के दो भाग हम पहले बता आये हैं - अन्तर्मन और बहिर्मन। हमारी अस्वाभाविक एवं कृत्रिम चेष्टाओं से बहिर्मन तो सर्वथा प्रकृति से दूर हो गया है, किन्तु अन्तर्मन प्रकृति के निकट और स्वाभाविक अवस्था में रहता है। बहिर्मन की कृत्रिमता अन्तर्मन प्रायः ग्रहण नहीं करता। अतएव प्राकृतिक सूचनाओं को अन्तर्मन ग्रहण करता है, क्योंकि बहिर्मन प्रकृति से दूर हो गया है। अतः वह अन्तर्मन की ग्रहण की हुई सूचनाओं को भी अपनी बाह्य चंचलता के कारण समझ नहीं पाता। किसी विशेष समय जब अन्तर्मन किसी महत्वपूर्ण सूचना के कारण बहुत प्रभावित हो उठता है तो बहिर्मन पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। बहिर्मन यद्यपि अपनी बाह्य दृष्टि के कारण उस सूचना को ठीक-ठीक समझ नहीं पाता, किन्तु उसके प्रभाव से परे भी नहीं रह पाता। हम इसी अवस्था में उदासी और बेचैनी का अनुभव करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य का दूसरे से सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध की व्याख्या एक पूरे पृथक् अध्याय में की जायेगी। हमारे किसी सम्बन्धी पर जब कोई आपत्ति आती है तो हमारे अन्तर्मन का जो उनसे सम्बन्ध है, वह सूत्र उसे प्रभावित करता है। बहिर्मन पूर्ववत् उस अन्तर्मन के प्रभाव को अनुभव तो करता है, पर उसका स्पष्टीकरण नहीं कर पाता।

मेस्मेरिक निद्रा में पात्र के जब बहिर्मन को सुप्त कर दिया जाता है, तो पात्र का अन्तर्मन काम करता है और वह अपनी ग्रहण की हुई सूचनाओं के आधार पर दूर एवं भविष्य की बातों को भी बताता है। जिस पात्र का अन्तर्मन जितना विषमजाल से रहित होगा, वह उतनी ही स्पष्ट सूचनाओं को ग्रहण करके बता सकेगा। ध्यान के द्वारा बहिर्मन का निरोध करके, अन्तर्मन की सूचनाओं के आधार पर योगी भविष्य एवं दूर की बातों को बताता है। यह प्रक्रिया प्रारब्धवाद को मानने पर और स्पष्ट हो जाती है, अतः प्रारब्धवाद के अनुसार अब इस पर विचार करेंगे।

आर्षशास्त्रों के अनुसार भावी कोई वस्तु नहीं। जो हमारे लिये भूत और भविष्य हैं, सृष्टि नियन्ता के लिये वह दोनों वर्तमान हैं। सर्वज्ञ के

लिये समय का व्यवच्छेद नहीं होता। हमारे ज्ञान पर समय पर्दा डाल देता है, अतः हमारे लिये भूत और भविष्य का बन्धन भी है। जब मन या मन का सूक्ष्म अंश, जो उस व्यापक तत्त्व से सम्बन्धित है, समस्त ज्ञान अपने अन्दर रखता है, अन्तर्मुखी वृत्ति से उस ज्ञान का साक्षात् किया जा सकता है।

जन्म से पूर्व ही मनुष्य के संचित कर्मों से उसके प्रारब्ध कर्मों का पृथक् गठन होता है। मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण व्यवहार इन्हीं प्रारब्ध कर्मों के अनुसार होता है। प्रारब्ध कर्मों के संस्कार कहीं बाहर तो रहते नहीं, वे अन्तर्मन में ही रहते हैं। अतः उनमें से जिस संस्कार को प्रकट होना होता है, वह पहले अन्तर्मन को प्रभावित करता है। संस्कार जितना प्रबल होता है, मन पर उतना ही अधिक प्रभाव भी पड़ता है। बाह्य विषयों में लीन बहिर्मन, अन्तर्मन के साधारण प्रभावों को अनुभव नहीं करता, किन्तु भारी प्रभावों से वह प्रभावित होता है। बाह्यमन विषयों में जितना कम आसक्त होगा, उतना अधिक वह प्रभाव के परिणाम को समझ सकेगा। यदि वह विषयों को छोड़कर उस समय अन्तर्मुख हो सके, तो उस प्रभाव के भावी परिणाम का ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। परिणाम जैसा सुखद या दुखद होने वाला होता है, मन पर वैसा ही प्रसन्नता या उदासी का प्रभाव पड़ता है।

सृष्टि में कोई पदार्थ अपनी पृथक् स्वतन्त्रता तो रखता नहीं, सब संसार की वस्तुओं एवं व्यक्तियों का परस्पर सम्बन्ध है। जैसे समुद्र में एक स्थान पर क्रिया होने से पूरे सागर के जल पर प्रभाव पड़ता है, वैसे ही संसार के प्रत्येक पदार्थ की क्रिया का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है; किन्तु जैसे जल में जहाँ क्षोभ हुआ, वहाँ के निकट के जल पर अधिक प्रभाव पड़ता है और दूरी के क्रम से प्रभाव कम होता जाता है, वैसे ही सृष्टि की घटनाओं का प्रभाव उनसे निकट सम्बन्ध के पदार्थों पर अधिक और दूसरों पर उत्तरोत्तर कम।

वैसे तो सृष्टि के प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तु के कार्य का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव को अपने निजी कार्यों में मन के

व्यस्त होने के कारण हम अनुभव नहीं कर पाते। पर जो हमारे निकट के सम्बन्धी हैं, जिनका हमारा परस्पर मानसिक सम्बन्ध है (चाहे वह सम्बन्ध प्रेम का हो या द्वेष का), उन पर जब कोई भारी आनन्द या आपत्ति का प्रभाव पड़ता है, तो सम्बन्धित होने के कारण हमारा मन भी प्रभावित हो जाता है। मन जैसे दूरस्थ प्रेमी के संकट से खिन्न होता है, वैसे ही दूरस्थ शत्रु के संकट से प्रसन्न भी होता है।

हमारा स्वार्थ विश्व के साथ बंधा है और विशेषतः उन लोगों के साथ जिनसे हमारा निकट का कोई भी सम्बन्ध है। हमारा प्रारब्ध उनके साथ बंधा हुआ है। उन पर कोई सुख-दुःख आने पर हमारे प्रारब्ध के संस्कार भी वैसे ही होते हैं। अन्तर्मन उस संस्कार से प्रभावित होता है और बाह्यमन भी उसी से प्रभावित होता है।

किसी भी प्रयोग के द्वारा हो, चाहे वह मेस्मेरिक निद्रा लाकर हो, चाहे इच्छा-शक्ति से बाह्यमन को कुंठित करके हो, चाहे ध्यान से या औषधि-प्रयोग से हो, बाह्यमन की प्रवृत्ति को रोक देने पर अन्तर्मन के द्वारा समस्त भूत, वर्तमान एवं दूर की घटनाओं को जाना जा सकता है। भूतकाल के कार्यों का संस्कार तो मन में होता ही है, वर्तमान और भविष्य का उपरोक्त ढंग से उस पर प्रभाव पड़ता है। इसमें एक ही बाधा होती है, अन्तर्मन के अनुभव में भी हमारी वासनाओं के विषमजाल बाधा डालते हैं। इसलिये जिस पात्र पर ऐसा प्रयोग करना हो, उसके अन्तर्मन का स्वच्छ होना आवश्यक है।

दूसरों के मन से हमारे मन का सम्बन्ध

: ९ :

पिछले अध्याय में बता आये हैं कि दूर किसी सम्बन्धी के बीमार होने पर हमारा मन आकुल हो उठता है। जो अत्यन्त गाढ़ प्रेमी हैं उनकी भावनाएं समान हो जाती हैं। अमेरिका में एक ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति हो चुका है जिसके सम्मुख कोई अंक लिखने से उसकी पत्नी ज्यों की त्यों उन अंकों को दूसरे कमरे में लिख देती थी। दूसरों के चित्त की बात बताने वाले योगी अब भी यत्र-तत्र भारत में मिल जाते हैं।

मेस्मेरिक निद्रा में प्रयोक्ता अपनी मानसिक शक्ति के द्वारा, पात्र के बहिर्मन को निद्रित करता है और उसके अन्तर्मन में अपने विचारों को प्रविष्ट करता है। यदि दो व्यक्ति के मन परस्पर सम्बद्ध न हों, तो एक, दूसरे को किसी भी दशा में प्रभावित नहीं कर सकता। एक वस्तु का तभी दूसरी पर प्रभाव पड़ता है जब उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध हो।

मन भावनात्मक है और भावनाएँ व्यापक होती हैं। शब्द, जो कि भावना का कार्य है, जब व्यापक होता है तो भावना सीमित नहीं रह सकती। शब्द के पूर्व रूप को भावना कहते हैं। ये भावनाएँ मन से उठती हैं और सम्पूर्ण नभ में व्याप्त हो जाती हैं। प्रत्येक मन को रेडियो के ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन के समान समझ लीजिये। आप अपनी प्रत्येक भावना को विश्व के लिये प्रसारित (ब्रॉडकास्ट) कर रहे हैं।

यदि दो प्रसारक (ब्रॉडकास्ट) केन्द्रों को एक आवर्त (फ्रीक्वेंसी) पर कर दिया जाये, तो वे एक दूसरे के द्वारा प्रसारित शब्दों को ग्रहण कर लेंगे। शक्तिशाली विस्तारक यन्त्र, उच्च कम्पन आकाश में उत्पन्न करके, अल्पशक्ति विस्तारक यन्त्र को विफल भी बना देता है। ठीक इसी प्रकार दो समान भाव-दशा में स्थित मन एक दूसरे की भावना को जान लेते हैं।

इसे इस प्रकार और स्पष्ट समझिये - एक सारंगी लीजिये और एक शीशे का गिलास। सारंगी के स्वर को गिलास की झंकार से मिलाइये। गिलास को तब तक ठोकते रहिये जब तक सारंगी की झंकार उससे पूर्णतः एक न हो जाय। अब गिलास का ठोकना बन्द कर दीजिये। क्या हुआ ? आप केवल सारंगी बजाते हैं, पर गिलास स्वतः बोलता है और सारंगी के स्वर के साथ उसका स्वर नीचा-ऊँचा भी होता है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि दोनों के अणुओं के कम्पन, स्वर के मिलाने के साथ एक हो गये। ठीक इसी प्रकार जब दो मन की गति या वृत्ति एकाकार हो जाती है, तो एक की क्रिया दूसरे में भी प्रतिबिम्बित होती है।

जो हमारे प्रेमी हैं, उनका हम, और हमारा वे चिन्तन करते रहते हैं। फल यह होता है कि हमारी भावनाएं सर्वांश में नहीं तो एकांश में, एक हो ही जाती हैं। और उस पर कोई बहुत बड़ा प्रभाव पड़ने पर, हम पर भी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता है। जो हमारा शत्रु है उसका भी हम चिन्तन करते हैं, अतः उस पर पड़े प्रभाव से भी हम प्रभावित होते हैं। हमारे मन को मित्र के दुःख में दुखी होने और शत्रु के दुख में प्रसन्न होने का स्वभाव हमने डाल रखा है, अतः ऐसा ही प्रभाव मन ग्रहण करता है।

योगी ध्यान के द्वारा मन की तरंगों को उस व्यक्ति से मिलाता है जिसके हृदय की बात जाननी है। जहाँ वह अपनी इस क्रिया में सफल हुआ, उसके मन पर दूसरे के मन की क्रियाएँ प्रतिफलित होने लगेंगी। मेस्मेरिक अपने नाटक तथा विद्युत्कण के द्वारा और हिप्नोटिस्ट अपनी सूचनाओं के द्वारा, पात्र के मन को अपने मन से मिलाता है। पात्र यदि विरोधी धारणा करने लगे, तो प्रयोक्ता कभी सफल नहीं होगा। क्योंकि ऐसी दशा में पात्र के मन की गति एकीभूत होने के बदले विपरीत गति करती रहती है। प्रयोक्ता की मानसिक शक्ति बहुत प्रबल हो, तो दूसरे विरोधी मन पर विजय पाना सम्भव भी होता है।

जब एक आदमी आपके पास आकर बैठता है, उसके शरीर के परमाणु और उसकी विद्युत् शक्ति आप में प्रवेश करने लगती है और आपकी उसमें। उसके विचार, उसके परमाणुओं में रहते हैं और वे

आपको प्रभावित करते हैं। पिछले अध्याय में “मन कैसे बनता है?” की व्याख्या करते हुये इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है।

जब आप किसी भी व्यक्ति के विषय में कुछ सोचते हैं तो आपकी मानसिक विचार-धारा उसकी ओर प्रवाहित होती है। आप अपने उन विचारों को उसकी ओर फेंकते हैं। आपका विचार जितना प्रबल और टिकाऊ होगा, उस पर उतना ही अधिक प्रभाव पड़ेगा। “प्रेम स्वतः प्रेमी को स्वीचता है” – इस सिद्धान्त में यही रहस्य है। आप मन में जिससे घृणा या द्वेष करते हैं, उसके मन में भी आपके प्रति वैसा ही भाव आज नहीं तो कल अवश्य उत्पन्न हो जायेगा। चेष्टा या शब्दों से भावों को न प्रकट करने के कारण, आप उसके समीप अच्छे नहीं रह सकते। आपके विचार वहाँ अवश्य प्रतिक्रिया करेंगे।

मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षियों पर भी विचार का प्रभाव होता है। मनुष्य की अपेक्षा वे प्रकृति के निकट अधिक रहते हैं, अतः उन पर अधिक प्रभाव पड़ता है। शिकारी किसी भी वेष में हो, पक्षी उसे देखते ही चिल्लाने लगेंगे। आप किसी पक्षी को मारने या पकड़ने के विचार से उसकी ओर चलें, तो वह उड़ जायगा। पर यदि आपने पक्षी को नहीं देखा और उसके लिये आपके मन में कोई भावना नहीं बनी, तो समीप से निकल जाने पर भी वह बैठा रहेगा। बच्चा डरता है, अतः गृहपशु उसे डराते हैं। आप नहीं डरते, अतः वे आप से डरते हैं। देखा गया है और उद्घरण मिलते हैं कि समदर्शी एवं अहिंसक महापुरुषों के सामने सर्प, व्याघ्र प्रभृति क्रूर पशु भी सीधे हो जाते हैं। उनमें प्रतिहिंसा की भावना नहीं उठती।

सब से प्रेम करने वाले महापुरुषों के सम्मुख जाकर, उनके शत्रु भी जो उनके अनुकूल हो जाते हैं, इसका कारण उनकी प्रेम भावना है। यदि हमारे मन में सहानुभूति एवं कल्याण के विचार हों, तो दूसरे के विरोधी विचारों को लौटना होगा और भूमि न मिलने के कारण वे नष्ट हो जायेंगे।

दो व्यक्तियों की मानसिक शक्तियां परस्पर समान तो होती नहीं। यदि ऐसे दो व्यक्तियों के मन में विरोधी भावनाओं का उत्थान हो, तो

ऐसी स्थिति हो जायेगी जैसे एक स्थान में दो सारंगियां भिन्न-भिन्न स्वर से बजायी जायें। जिस सारंगी का स्वर ऊंचा होगा, वही सुनायी पड़ेगा और दूसरा उसमें विलीन हो जायेगा। ऐसे ही विरोधी भावनाओं में, प्रबल भावना दूसरी पर विजय पाती है और दूसरे मन को उसके अनुकूल बनना पड़ता है।

शंका और सन्देह मानसिक प्रयोगों के सबसे बड़े शत्रु हैं। सफलता में पूर्ण विश्वास रखकर प्रयोग करना चाहिये। दूसरे के मन पर आपका प्रभाव पड़ता तो है ही, किन्तु वहां यदि विषम स्थिति है तो विलम्ब से सफलता होगी। सम्बन्ध-स्थापन के दो मार्ग हैं - अपने मन को दूसरे के मन की स्थिति में पहुंचा कर अथवा दूसरे के मन को निद्रित करके अपनी दशा में लाकर। पहला मार्ग उनका है जिनका अपने मन पर पूर्ण अधिकार है। यह कभी विफल न होने वाला उपाय है। दूसरा उपाय मेस्मेरिज्म पद्धति का है और उसमें धैर्य की आवश्यकता है।

यदि आप मानसिक प्रयोगों में सफलता चाहते हैं तो आप में प्राणी मात्र के प्रति प्रेम, दया एवं उपकार की भावना होनी चाहिये। किसी के प्रति भी घृणा, क्रोध एवं अपकार की भावना आप में स्थान न पाये। वासना पूर्ति एवं स्वार्थ साधन के लिये कभी आप में प्रवृत्ति न हो। स्मरण रहे, कलुषित कामों में प्रयुक्त करने पर आप विफलता तो पायेंगे ही, शक्ति से भी हाथ धो बैठेंगे।

* * *

स्वप्न क्या है ?

: १० :

मनुष्य की तीन अवस्थाएँ साधारणतः मानी गयी हैं - जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। मन के सब भाग अपना काम जब करते रहते हैं तो वह जाग्रत अवस्था होती है। संचालकमन के अतिरिक्त शेष सब भाग जब विश्राम करते हैं तो उस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। जब संचालकमन के अतिरिक्त कोई और भाग भी जागृत रहता है और बहिर्मन विश्राम करता है, तो वह अवस्था स्वप्न होती है।

स्वप्न के सामान्यतः तीन भेद होते हैं - सामान्य स्वप्न, विशेष स्वप्न और अस्वस्थ स्वप्न। अन्तर्मन (चित्त) और संचालकमन तो जागता रहे, किन्तु निर्णायकमन (बुद्धि) और बहिर्मन सोता रहे, यह साधारण स्वप्न की अवस्था है। विशेष स्वप्न में भी अवस्था तो यही रहती है, किन्तु अन्तर्मन बहिर्मन के समान संचालकमन को प्रभावित करने लगता है। सामान्य स्वप्न में अन्तर्मन संचालकमन को प्रभावित न करके, अपने आप ही उधेड़-बुन करता रहता है। अस्वस्थ स्वप्न तब होता जब विशेष स्वप्न की अवस्था में निर्णायकमन भी जाग्रत रहता है और केवल बहिर्मन सोता है।

हम जो कुछ देखते, सुनते और सोचते हैं, स्वप्न में वही बातें हमें दीख पड़ती हैं। मन पर अज्ञात प्रभावों का (संग, भविष्य या अज्ञात वर्तमान घटनाओं), जिनका वर्णन पहले अध्याय में हो चुका है, दृश्य स्वप्न में आता है। मन पर किसी भी प्रकार से जो कोई प्रभाव पड़ता है, वही वह स्वप्न में प्रकट करता है। पर प्रकट करने की प्रणाली निर्णायकमन के जागृत न होने के कारण विशृंखल होती है, अतः वे दृश्य असम्बद्ध होते हैं। कभी-कभी चिरविस्मृत भूतकाल एवं वर्तमान के संस्कारों को मिलाकर वह विचित्र इन्द्रजाल बनाता है।

मनुष्य तभी सुख से सो सकता है, जब बाहर का वातावरण शान्त रहे। यदि कोई आपको पकड़ कर हिलाता डुलाता रहे तो आप नहीं सो सकते। इसी प्रकार गाढ़ सुषुप्ति या अच्छी नींद तब आती है, जब शरीर पूर्णतः स्वस्थ और मन निश्चिन्त रहे। शारीरिक या मानसिक अस्वस्थता में ही स्वप्न दिखायी पड़ते हैं। साधारण स्वप्न प्रायः आमाशय की कार्याधिक्यता से आते हैं। निद्रा के समय में भी जब संचालकमन को आपका अतिरिक्त भोजन पचाना पड़ता है, तो वह अपने काम को वेग से करता है। फल यह होता है कि ज्ञान तन्तु शिथिल न रहकर झंकृत रहा करते हैं और इससे अन्तर्मन विश्राम नहीं कर पाता।

जागृत समय में अन्तर्मन को, बहिर्मन के प्रतिबन्धक होने के कारण, अपने भीतर दबे संस्कार (विषम जाल) प्रकट करने का समय नहीं मिलता। जब बहिर्मन सो जाता है तो इस समय अन्तर्मन अपने संस्कारों को प्रकट करता है। वीर्यनाश से जब स्नायु दुर्बल हो जाते हैं, तो वे संचालकमन की साधारण क्रिया को भी नहीं सह पाते। इस स्थिति में भी स्नायु-कंपन के कारण अन्तर्मन विश्राम नहीं कर पाता। अनिद्रा रोग इसी अवस्था में होता है। रोगी को कभी सुषुप्ति आती ही नहीं। वह केवल स्वप्न देखता रहता है। अत्यधिक स्नायु-दुर्बलता हो जाने पर तो बहिर्मन भी नहीं सो पाता और तब सर्वथा निद्रा का अभाव हो जाता है। ऐसा व्यक्ति पागल हो जाता है। आमाशय की साधारण क्रिया से जो स्वप्न दिखायी देते हैं, वे जगने पर स्मरण नहीं रहते। जैसे-जैसे यह खराबी बढ़ती जाती है, स्वप्न स्मरण रहने और जगने पर भी मन पर अपना प्रभाव रखने लगते हैं।

विशेष स्वप्न प्रायः मानसिक चिन्ताओं से होता है। साधारण स्वप्न और विशेष स्वप्न में यही अन्तर है कि साधारण स्वप्न का स्वप्न-समय में शरीर पर प्रभाव नहीं पड़ता और विशेष स्वप्न स्वप्न-समय में शरीर को प्रभावित भी करता रहता है। उदाहरण के लिये आप एक स्वप्न तो ऐसा देखते हैं कि स्वप्न में वीर्यपात हो गया, किन्तु उठने पर ऐसा हुआ मिलता नहीं। यह साधारण स्वप्न है। विशेष स्वप्न वह है जिसमें स्वप्न में वीर्यपात होता है और उठने पर सचमुच ठीक ऐसा ही आप पाते हैं।

जब हम किसी बात को बहुत सोचते हैं या कोई ऐसी घटना हो जाती है जिसका प्रभाव मन पर गहरा पड़ता है, तो अन्तर्मन उसे ग्रहण कर लेता है। क्योंकि अन्तर्मन ने ऐसी बात ग्रहण की है जिसके विषय में कुछ करने के लिये बहिर्मन बराबर सोचता रहता था और किसी परिस्थिति विशेष के कारण नहीं कर पाता था, अतः अन्तर्मन उस कार्य को करने की चेष्टा करता है और संचालकमन को प्रभावित करता है। फलतः शरीर भी उस स्वप्न के प्रभाव में आ जाता है।

अन्तर्मन पर परिस्थिति के बन्धन तो होते नहीं, निर्णायक मन के सुप्त होने के कारण वह उचित-अनुचित सोच भी नहीं सकता, अतएव वह चेष्टा करके बहिर्मन की सूचना को पूर्ण करना चाहता है। हम पहले बता आये हैं कि संसार का यह रूप आपके भीतर से आता है। मान लीजिये कि आप एक व्यक्ति से बहुत रुष्ट हैं, उसे मारना और गाली देना चाहते हैं। परिस्थिति वश आप ऐसा कर नहीं सकते, पर चाहते हैं और इसके लिये उद्विग्न हैं। सोने पर अन्तर्मन उस व्यक्ति को अपने अन्दर पाता है, वह संचालकमन को उसे दंड देने की प्रेरणा करता है, फलतः आप सोते-सोते गाली देने, दांत पीसने और हाथ पटकने लगते हैं।

यदि आमाशय में इतनी अधिक खराबी हो कि वह ज्ञान तन्तुओं को अधिक प्रभावित करे, तो भी अन्तर्मन संचालकमन को आज्ञा देने लगता है और उसका शरीर पर प्रभाव पड़ता है। उत्तेजक भोजन से इसी कारण स्वप्नदोष होता है। मानसिक दुर्बलता, कठोर चिन्तन और आमाशय की विशेष गन्दगी से विशेष स्वप्न आता है। यह एक प्रकार का रोग समझना चाहिये। मनुष्य ऐसे स्वप्नों में चिल्लाता है, रोता है, हंसता है, गाली बकता है, हाथ-पैर पटकता है तथा और भी ऐसे ही कार्य करता है। जागने पर उसे इन कामों का तनिक भी पता नहीं होता।

स्वप्न की तीसरी दशा - अस्वस्थ स्वप्न, एक भयंकर रोग है और यह बहुत कम लोगों को होता है। मेस्मेरिक जब किसी पात्र को निद्रित करके, कुछ समय पश्चात् किसी कार्य को करने की आज्ञा देता है और फिर पात्र को जागृत कर देता है, तो उस कार्य को करने के समय पात्र

अपने आप इस अस्वस्थ स्वप्न की अवस्था में जा पहुंचता है। पात्र वह काम करता है और पुनः सो जाता है। जगने पर उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता।

इस अवस्था में मनुष्य जागृत की भांति उठकर सब कार्य करता है। वह मीलों की यात्रा करता है, गेंद खेलता है, पुस्तकें लिखता है और ऐसे वह सब काम कर सकता है जो जागृत में करता। कभी-कभी तो ऐसे काम भी कर डालता है जो जागृत में उसके लिये असम्भव थे। योरोप में इस अवस्था के ऐसे कई व्यक्तियों का उद्धरण मिला है जो सोते से उठकर यात्रा कर देते या कोई ऐसी भाषा बोलने या लिखने लगते, जिसे वे नहीं जानते थे। मैंने एक ऐसे व्यक्ति को देखा है जो इस अवस्था में उठकर मकान के चक्कर लगाता, बीड़ी पीता और फिर सो जाता। पुरुष इस अवस्था में कोई अनियमित और असंबद्ध कार्य नहीं करता। किन्तु जगने पर उसे अपने किये कार्यों की स्मृति नहीं रहती।

बिना स्नायु दुर्बलता के यह अवस्था नहीं आती। दुर्बल मानस व्यक्ति के मन में जब कोई ऐसी भावना ज्ञात या अज्ञात रूप से दृढ़ता से प्रविष्ट हो जाती है, जिसके अनुसार कार्य होना चाहिये, तो अन्तर्मन निर्णायकमन को जागृत कर लेता है या निर्णायकमन स्वयं चौककर बहिर्मन के सोते होने के कारण अन्तर्मन से वह कार्य लेता है और संचालकमन उनकी आज्ञा का पालन करता है। अन्तर्मन में गुप्त संस्कारों का ज्ञान भी उस समय उपलब्ध रहता है, अतः उस समय ऐसे भी कार्य होते हैं जो जागृत में असम्भव थे।

स्वप्न की सत्यता

: ११ :

आर्षशास्त्रों में स्वप्न विज्ञान का बहुत सूक्ष्म विवेचन हुआ है। “मन पर भविष्य एवं अज्ञात वर्तमान का प्रभाव” शीर्षक लेख में बताया जा चुका है कि मन पर किस प्रकार भविष्य की घटना का प्रभाव पड़ता है। जागृत अवस्था में बहिर्मन की बहिर्मुखता के कारण, हम पूर्णतः उस प्रभाव का अनुभव नहीं कर पाते। किन्तु स्वप्न के समय जब बहिर्मन सोता होता है, तो अन्तर्मन अपने प्रभावों का स्पष्टीकरण करने में स्वतन्त्र होता है।

दूर कोई अनिष्ट या सुख किसी आत्मीय को हुआ हो अथवा कोई निकट भविष्य में महान् घटना होने वाली हो तो उसका प्रभाव, संस्कार के रूप में जिसे समझने के लिये कम्पन कह सकते हैं, चित्त (अन्तर्मन) पर पड़ता है। कम्पन जो आकार बनाता है, स्वप्न में चित्त इसी को स्पष्ट करता है। होने वाली घटना का वह चित्र नहीं होता, बल्कि उस घटना का जो कम्पन चित्त पर पड़ रहा है, उस कम्पन द्वारा निर्मित वह चित्र होता है। घटना बहुत प्रभावशाली या निकट की हो तो उसका ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब भी पड़ जाता है, पर प्रायः स्वप्न चित्रों के आधार पर घटना को ढूँढ़ना पड़ता है। आर्षग्रन्थों में इस सूक्ष्म विवेचन के आधार पर बताया गया है कि कैसा स्वप्न दीखे तो कौन-सी घटना होने वाली समझना चाहिये।

उदाहरण के लिये स्वप्न में अपने को हाथी दौड़ाये, तेल लगाये या अपने शरीर में अंग-भंग दीखे, गधे पर बैठकर दक्षिण जाते दिखायी दें, तो अपनी या किसी सम्बन्धी की निकट में मृत्यु समझनी चाहिये। श्वेत पुष्प, श्वेतवस्त्रावृता स्त्री, देवता या दधि और फल दीखें, तो शुभ कार्य होनेवाला है ऐसा अनुमान करना चाहिये। जलवृष्टि या जलप्लावन दृष्टि पड़े,

तो उसे अनावृष्टि की सूचना समझना होगा। इस प्रकार स्वप्न-फलों का विस्तार से शास्त्रों में वर्णन है। जिन्हें स्वप्न-फल जानना हो, उन ग्रन्थों को देखना चाहिये।

आपको सम्भव है यह अनुभव हो कि किसी विशेष कार्य की चिन्ता करते समय आप कभी-कभी शरीर को भी भूल जाते हैं। बड़ी देर में तो स्मरण होता है और तब आश्चर्य होता है कि इतनी देर तक हम इस विषय को सोचते रहे! उस समय आपके आसपास क्या हो रहा था, इसका भी आपको पता नहीं होता। जो साधक आरम्भ में जप करने बैठते हैं, उन्हें इसका अवश्य अनुभव होगा। माला पूरी होने पर वे चौंकते हैं कि अंगुलियाँ चलती रही और मन शरीर को भी छोड़कर अपनी उधेड़-बुन में मग्न रहा। यह भी एक प्रकार की स्वप्न के समान अवस्था है।

इस उपरोक्त अवस्था में बहिर्मन एक कल्पना को लेकर पृथक् हो जाता है, निर्णायकमन उसके साथ होता है, संचालकमन को आपने जैसी आज्ञा - जप करने, रास्ता चलने या और किसी कार्य की दे रखी है, वह शरीर के द्वारा उसे करता रहता है। यदि इस अवस्था में अन्तर्मन को जागृत करके कार्यशील किया जा सके तो वह समस्त निकट भविष्य की घटनाओं के चित्र ला देगा। इस समय वह तटस्थ शान्त रहता है। यह योग की एक प्रभावशाली प्रक्रिया है कि मन (बहिर्मन) को एक कार्य दे देते हैं और अन्तर्मन को सचेष्ट कर देते हैं। अन्तर्मन इस समय समस्त भूत, भविष्य एवं वर्तमान की सूचना देता है। बहिर्मन को रोक देने की अपेक्षा यह सरल क्रिया है। स्वप्न के निर्णय में जो कठिनता रहती है, वह इसमें नहीं रहती।

रात्रि के अन्तिम प्रहर में जो स्वप्न दिखायी पड़ते हैं, वे सत्य होते हैं और शेष नहीं। कारण यह होता है कि रात्रि के प्रथम प्रहर में तो कोई सोता नहीं, कोई असाधारण ढंग से सोता हो तो वह अपवाद होगा। द्वितीय प्रहर दिन भर की श्रान्ति मिटाने के लिये घोर सुषुप्ति का होता है। पहली निद्रा प्रगाढ़ होती है, यह बात सभी जानते हैं। तृतीय प्रहर में निद्रा से उठा अन्तर्मन पूर्णतः सावधान नहीं होता। इसी प्रहर में प्रायः स्वप्न

दिखायी पड़ते हैं, पेट की और स्नायुओं की खराबी में दूसरे प्रहर में भी। अन्तर्मन में हमारी वासनाओं के जो विषमजाल हैं, जिन्हें कि हमने दबा रखा है, वे सदा बाहर आने की चेष्टा करते रहते हैं। बहिर्मन उन्हें प्रकट नहीं होने देता। स्वप्न में जब बहिर्मन सोता रहता है, तो उन्हें अवकाश मिलता है और पहले वे ही अन्तर्मन में आते हैं।

विषमजाल प्रायः रजोगुण और तमोगुण प्रधान होते हैं, अतः जब शरीर में इन गुणों की प्रधानता हो, तो उन्हें प्रत्यक्ष होने का अधिक सुअवसर मिल जाता है। रात्रि के चतुर्थ प्रहर में समष्टि में सत्त्वगुण प्रधान रहता है। शरीर पिछले दो प्रहरों की निद्रा से स्वस्थ हो चुका होता है। विषमजाल तृतीय प्रहर में आ चुके होते हैं। अन्तर्मन में नींद की उन्मनी स्थिति नहीं होती, वह सावधान होता है। मन को तो काम चाहिये, जब विषमजाल नहीं आते तो अन्तर्मन अपने पर पड़ने वाले समष्टि एवं संस्कारों के प्रभावों को प्रकट करने लगता है।

अन्तर्मन निद्रा से उठा होता है, अतः वह अपने अन्तरतम भाग से ही संस्कारों को लेना आरम्भ करता है। फल यह होता है कि सूक्ष्म संस्कार पहले और भारी प्रभाव वाले संस्कार को वह बाद में ग्रहण करता है। इस कारण से प्रातः काल के जितने निकट का स्वप्न होगा, उतना शीघ्र उसका फल होगा और उसके सत्य होने की उतनी अधिक सम्भावना रहेगी। जितनी अधिक रात्रि का स्वप्न होगा, उतना अस्पष्ट और देर में फल प्रकट करने वाला होगा। कितनी देर का स्वप्न होने पर कितने दिन में फल प्रकट होगा, यह विषय स्वप्न सम्बन्धी शास्त्रों में विवेचित हुआ है।

प्रातः काल के समय प्रकृति सत्त्वप्रधान तो रहती ही है, रात्रिभर की विश्रान्ति से चित्त का क्षोभ दूर हो चुका होता है और वह भी शान्त तथा सत्त्वप्रधान रहता है। यही कारण है कि चतुर्थ प्रहर में साधन करने के लिये शास्त्रों में इतना जोर दिया गया है। जब चित्त (अन्तर्मन) सात्त्विक स्थिति में होता है तो वह भविष्य की घटनाओं के प्रभावों को स्पष्टतया ग्रहण कर लेता है। मान लीजिये कि आप चतुर्थ प्रहर में गाढ़ सुषुप्ति में

मग्न हैं और अब जागृत होने ही वाले हैं, इसी समय किसी महत्त्वपूर्ण सूचना का प्रभाव अन्तर्मन पर पड़ता है। वह तुरन्त उसे स्वप्न के रूप में अत्यन्त स्पष्टता से उपस्थित करता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इसी समय बहिर्मन भी जग पड़ता है अर्थात् आप पूर्णतः जग पड़ते हैं, पर अन्तर्मन ने अपनी सूचना इतनी स्पष्ट प्रकट की थी कि बहिर्मन भी उसे ग्रहण कर लेता है और स्वप्न का वह दृश्य, खुली आँखों के सम्मुख भी कुछ मिनट बना रहता है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जब सोते से उठते ही किसी ने अपने सम्बन्धी को खड़ा देखा और पश्चात समाचार मिला कि उसका उसी समय (जब वह दिखायी पड़ा था) शरीरान्त हो गया।

इन सारे सिद्धान्तों के मूल में एक ही बात है - बहिर्मन की क्रिया शान्त हो, वह अपनी बहिर्मुखता से बाधा न देता हो और अन्तर्मन पवित्र तथा सात्त्विक स्थिति में हो, तो भूतकाल के संस्कारों, अज्ञात वर्तमान और भविष्य की घटनाओं को मनुष्य जान सकता है।

* * *

मन की गति का शृंखलित धर्म

: १२ :

मनोनियन्त्रण जिनका उद्देश्य है, जो परमार्थ-मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये इस चंचल देवता (मन) को एक ओर लगाना चाहते हैं, जो इस तरंगित मनःसिन्धु की तली के रत्नों को पाने के लिये इसे शान्त करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम इस मनोदेव के स्वभाव को समझ लेना चाहिये। स्वभावानुकूल व्यवहार करके हम इसे वश में ला सकते हैं। जैसे सरिता के प्रवाह की ओर तैर कर पुरुष उसे पार कर लेता है; किन्तु यदि हम मन के स्वभाव के विरुद्ध चेष्टा करेंगे, तो नदी के प्रवाह के विपरीत तैरने वाले के समान श्रम व्यर्थ जायगा और श्रान्त करके प्रवाह अन्त में ले डूबेगा।

मन की गति बड़ी तीव्र है। तीव्र गति का उदाहरण देने के लिये मन का लोग उद्धरण देते हैं। पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने और दूसरे लोक में पहुंचने में भी, मन को एक पल नहीं लगता। कारण यह है कि मन को कहीं जाना तो पड़ता नहीं, सब संस्कार उसी के भीतर हैं, जब जिसे चाहा उठा लिया। समस्त देखे हुए कार्य एवं पदार्थों का उसमें प्रतिबिम्ब रहता है। इतना होने पर भी मन अकस्मात् कहीं नहीं जाता। किसी संस्कार को वह अचानक नहीं छूता।

मन की गति का धर्म शृंखलापूर्ण है। मन एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर उनकी सम्बन्ध शृंखला के द्वारा जाता है। सम्बन्ध न होने पर कूद जाने का उसका स्वभाव नहीं। एक पदार्थ का चिन्तन करते हुए, वह दूसरे पदार्थ पर तब जायगा, जब उस दूसरे पदार्थ का पहले से कुछ न कुछ सम्बन्ध हो।

मान लीजिये कि आप इस समय बम्बई की एक दुकान का चिन्तन

कर रहे हैं। मन सोचेगा - “दुकान में यह लाल रंग की पुस्तक रखी है। ठीक ऐसी ही लाल रंग की पुस्तक कलकत्ता में देखी थी।” मन लाल रंग की पुस्तक के सम्बन्ध से कलकत्ता पहुंच गया। अब वह सोच सकता है “अमुक व्यक्ति के पास वह पुस्तक थी या अमुक घर में थी। उस घर में अमुक व्यक्ति था, उसका स्वर अमुक चोर के समान था, उस चोर ने अमुक चोरी बड़ी धूर्तता से की थी ... आदि।” पुस्तक को लेकर मन पहुंच गया चोरी तक और रोका न जाय तो इसी प्रकार मनमानी शृंखला बनती रहेगी।

मन का पहला स्वभाव है खाली न रहना। उसे कुछ न कुछ काम चाहिये। जब आप उसे कुछ काम नहीं देंगे तो वह मनमाने संस्कारों को उठाता और कल्पना करता रहेगा। मन में सात्त्विक की अपेक्षा राजस और तामस संस्कारों का अधिक रहना स्वाभाविक है क्योंकि यदि सात्त्विक संस्कारों की बहुलता होती, तो हम मनुष्य न होकर देवयोनि में होते। मन का प्रवाह स्वभावतः उन राजस और तामस संस्कारों के साथ रहता है। जब मन को अवसर मिलता है तो वह उन्हीं राजस और तामस विचारों का उत्थान करता है। इसी से कहा गया कि “खाली मन शैतान का घर।”

जिस किसी को भी मानसिक शक्ति का उपार्जन करना है या कोई आध्यात्मिक साधन करना है, उसे सर्वप्रथम यह स्मरण रखना चाहिए कि खाली न बैठे। बेकार बैठना सारी बुराइयों की जड़ है। आलस्य को पास नहीं आने देना चाहिये। शरीर चाहे निश्चेष्ट हो, किन्तु मन को सदैव कार्य में लगाये रखो। यदि मन को खाली छोड़ोगे तो वह तुम्हारे पतन के लिये खाई खोदेगा।

मन को खाली न रखने के साथ दूसरी बात यह स्मरण रखिये कि उसे स्वतन्त्र शृंखला मत बनाने दीजिये। मन जिस शृंखला को लेकर चलता है, उसका निरीक्षण हो। उसका संचालन साधक को करना चाहिये। अच्छे विचार देकर भी मन को छोड़ दिया गया, तो वह फिर उसकी शृंखला राजस संस्कारों की ओर दौड़ा लेगा। मन कितनी भी

अग्राह्य वस्तु पर पहुँचा हो, उसके साथ बल प्रयोग करना लाभप्रद नहीं होगा। बलपूर्वक वहाँ से हटाने की चेष्टा करने पर वह बार-बार और बड़े वेग से उधर ही जायगा। उसे हटाने का सुगम उपाय यह है कि वहीं उसे एक सुन्दर शृंखला दे दी जाय और मन को उस पर चलाने का प्रयत्न किया जाय।

मान लीजिये कि आपने भगवान् राम का चिन्तन किया और मन को श्री राघवेन्द्र का संस्कार देने के पश्चात् छोड़ दिया। मन का स्वभाव है राजस या तामस वृत्तियों की ओर जाने का। मन वहीं से शृंखला आरम्भ करेगा - “रामचन्द्रजी ने रावण को मारा था, रावण ने उनकी स्त्री को चुरा लिया था, आज-कल भी लोग स्त्री को चुरा लेते हैं, अमुक स्त्री चुरायी गयी थी, वह ऐसी है ...।” मन को छोड़ देने का फल यह हुआ कि वह मर्यादा पुरुषोत्तम का स्मरण करते-करते यहाँ आ पहुँचा।

अब दूसरे साधन को देखिये। मन उस चुरायी स्त्री का चिन्तन करते हुये पहुँचा - “उस स्त्री की रूप रेखा अमुक वेश्या-सी है।” इतने घृणित स्थान से घबड़ाइये नहीं। मन का संचालन कीजिये, उसे रोकने के बदले उसी प्रवाह में एक सुन्दर शृंखला जोड़ दीजिये - “वह वेश्या रूपवती है, किन्तु उसका रूप श्रीजी के रूप का शतांश भी नहीं। श्रीजी श्यामसुन्दर को अत्यन्त प्रिय हैं, श्यामसुन्दर ने कितना सुन्दर गीता का उपदेश दिया है।” इस प्रकार तुरन्त आप उस घृणित विचार से उठकर यहाँ तक आ जाते हैं। किन्तु मन को कहीं मत छोड़िये। वह सदा निम्न विचारों की शृंखला चलाना चाहेगा। वह यहां से भी सोच सकता है - “गीता का उपदेशक अमुक कितना पाखण्डी है, उसका नौकर शराबी है, उसका शराबी साथी कल जुआ खेलता था ...।” मन तो छूटते ही भागना चाहेगा। कर्तव्य यह है कि उसे स्वतः कोई शृंखला मत पकड़ने दो। स्वयं उसे चलाओ - “गीता के उपदेश के पश्चात् अर्जुन ने युद्ध आरम्भ किया, युद्ध पहले भीष्मजी से हुआ, भीष्मजी की प्रतिज्ञा के लिये श्यामसुन्दर चक्र लेकर दौड़े।” इसी प्रकार भक्त एवं भगवच्चरित्रों का निरन्तर चिन्तन किया जा सकता है।

“तस्मिन्नेकतानता ध्यानम्” लक्ष्य में मन का एक रूप से लगा रहना ध्यान है। यह ध्यान तो बहुत उच्च कक्षा की बात है, किन्तु सात्त्विक विचारों में मन को लगाये रहने से मन सात्त्विक रहेगा और उसमें ध्यान की योग्यता भी आयेगी। ध्यान का पूर्ण विषय तो अगले अध्यायों में स्पष्ट किया जायेगा। इसे ध्यान के लिए भूमि उपस्थित करने का साधन समझिये।

इष्ट-मूर्ति का आप ध्यान करना चाहते हैं, पर मन वहां एकाग्र होता नहीं। ऐसी स्थिति में मन को ऐसे विचारों की शृंखला दीजिये, जिसमें इष्टमूर्ति के साथ दूसरे दृश्य भी बदलते रहें। नाना प्रकार के भगवच्चरित्रों का चिन्तन कीजिये। ऐसा करने में यद्यपि विचार और दृश्य बदलते रहेंगे, पर इष्टमूर्ति सब में उपस्थित रहेगी। एकांश में मन को उस रूप में एकाग्र रहना पड़ेगा। जब वह इस प्रकार एकाग्र होने लगेगा, तो केवल मूर्ति का भी धीरे-धीरे चिन्तन कर सकेगा।

* * *

वासना-प्रतिरोध के विषमजाल

: १३ :

मनुष्य केवल मनुष्य ही नहीं है, वह एक ऐसा प्राणी है जो पशुत्व और देवत्व के मध्य में स्थित है। जिन जीव योनियों में से होकर वह यहाँ तक पहुँचा है, उन सबके संस्कार उसे धरोहर की भाँति मिले हैं। मनुष्य को पूर्णतः मनुष्य बनने के लिये उसे इन अपने प्राचीन पशुत्व के संस्कारों पर विजय पाना पड़ता है। केवल मनुष्य शरीर में आ जाना मनुष्यता नहीं। राग-द्वेष, मोह-लोभ, काम-क्रोध और वैयक्तिक-स्वार्थ की भावना तथा बदला लेने की इच्छा मनुष्य में उसके पूर्ववर्ती पशुता के संस्कार हैं। प्रेम, सहानुभूति, सहायता, क्षमा, दया, कृपा और परोपकार प्रभृति संस्कार जिसमें नहीं, वह मनुष्य शरीरधारी होते हुये भी मनुष्य नहीं। उसमें अभी मानवता की प्रतिष्ठा नहीं हुई है।

मानव समाज का संघर्ष इसी पशुता और मानवता का संघर्ष है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह संघर्ष निरन्तर हो रहा है और प्रत्येक समाज को इसमें से जाना पड़ रहा है। हर कोई, चाहे वह कितना भी गिरा हुआ क्यों न हो, पर श्रेष्ठ बनना चाहता है। वह मनुष्य है, अतः मानवता के प्रति उसमें आकर्षण होता है। अपने पशुत्व के व्यवहार पर उसका निर्णायक मन उसे कोसता है।

इतना सब होते हुये भी हमारे अन्तर्मन पर उन पशुत्व के संस्कारों का इतना प्रभाव है कि इच्छा न होते हुये, निर्णायक मन की उपेक्षा करके, बहिर्मन बार-बार उधर ही जाता है। असंख्य जन्मों की पशुता का संस्कार दो-चार वर्ष के प्रयत्न से सर्वथा नष्ट हो जाय, यह किसी दशा में सम्भव नहीं। वह जागृत होता रहता है और उसे दबाने की चेष्टा भी होती रहती है। यही मानव हृदय की अशान्ति का मूल है।

जहाँ मनुष्य के अन्तर्मन और बहिर्मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने चिर-संस्कारों की ओर है, वहीं उसका निर्णायक मन उन संस्कारों से घृणा करता है, वह बराबर उधर बढ़ने से रोकता है। जब-तब निर्णायक मन (बुद्धि या विचार शक्ति) प्रबल रहता है, मनुष्य उन संस्कारों के उठने पर भी उन्हें दबा देता है। बाह्यमन निर्णायक मन की जब तक बात मानता है, वासना क्रिया के रूप में परिवर्तित नहीं होती। पर जहाँ बाह्यमन निर्णायक मन के नियन्त्रण से बाहर हुआ, मनुष्य वासना के प्रवाह से प्रवाहित हो जाता है।

मनुष्य ऐसी परिस्थिति में रहता है कि वह अपनी मनमानी नहीं कर सकता। उसे समाज, शासन, शक्ति, परिस्थिति आदि के अनुकूल चलना पड़ता है। यदि ये प्रतिबन्धक न हों तो बाह्यमन बहुत कम निर्णायक मन की बात माने। किन्तु जब बाह्यमन देखता है कि निर्णायक मन की सम्मति न मानने में लज्जा, भय, अपमान तथा निष्फलता आदि हैं, तो वह उसके सम्मुख सिर झुका देता है।

हमारे मन में जितने विचार और जितनी इच्छाएँ उठती हैं, उनमें से प्रायः तीन चौथाई को हम प्रकट नहीं कर पाते। इसलिये नहीं कि हम उन्हें प्रकट करना नहीं चाहते, वे उठती ही हैं प्रकट होने के लिये, किन्तु उनके प्रकट न करने का कारण यह होता है कि सामाजिक नियमों, शासन के नियमों, विरोधियों की शक्ति, अपमान आदि का भय हमें ऐसा करने नहीं देता; या अपने में इतनी शक्ति नहीं होती कि उन्हें प्रकट करके सफल कर सकें। अपने वंश एवं अध्ययनादि से पड़े हृदय के संस्कार, उसे प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करते हैं। हृदय में भय, ग्लानि या लज्जा के भाव आते हैं। फल यह होता है कि हम उन वासना या विचारों को मन में ही दबा देते हैं।

हम जिन विचार या वासनाओं को दबा देते हैं, वे नष्ट नहीं होते। वे हृदय के अन्तर-प्रदेश में प्रविष्ट हो जाते हैं। मन में और भीतर वे अपना स्थान बना लेते हैं। यद्यपि बहिर्मन उन्हें भूल जाता है और इसी कारण हम उन्हें नष्ट हुआ मान लेते हैं, किन्तु उनकी स्थिति मन में उलटे दृढ़

हो जाती है। ऐसे दबाये हुये विचार और वासनाएँ अन्तर्मन में अपना एक विषमजाल बना लेती हैं। मानस-विज्ञान में यह विषमजाल अपना बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रत्येक मानस-शास्त्र के अन्वेषक एवं मानसिक शक्ति के साधक को इसका ध्यान रखना चाहिये। मानसिक चिकित्सा का मूलधार यही है। जो चिकित्सक विषमजाल के रहस्यों को जानता है, वह अपनी चिकित्सा में शीघ्र सफल होता है।

विषमजाल में स्थित संस्कार सदा प्रकट होने का अवसर देखा करते हैं। वे निरन्तर अभिव्यक्त होने के लिये सचेष्ट रहते हैं। बहिर्मन उन्हें इसका अवसर नहीं देता। पर उनकी सचेष्टता का बहिर्मन पर बराबर प्रभाव पड़ता रहता है। मन्त्रों को इसीलिये गुप्त रखने का आदेश है। गुप्त रखने पर मन्त्र मन पर प्रभाव डालता रहता है। यद्यपि बहिर्मन उन संस्कारों को रोकता है, किन्तु उसके अस्वस्थ या प्रमत्त होते ही वह प्रकट हो जाते हैं। काम या क्रोध के आवेश में, नशे की झोंक में, पागल होने पर, स्वप्न में, मूर्च्छित होने पर और मेस्मेरिक निद्रा लाकर आज्ञा देने पर, वे संस्कार प्रकट होते हैं। ऐसी अवस्थाओं में मनुष्य उन बातों का वर्णन करने लगता है, जिन्हें उसने बड़ी चेष्टा से छिपा रखा था।

विषमजाल का प्रभाव कभी-कभी बहुत घातक पड़ता है। मानसिक रोगों का प्रायः यही कारण होता है। चिड़चिड़ापन, अचानक भय, अकारण क्रोध या ऐसे दूसरे स्वभाव, उन दबे संस्कारों के वे प्रभाव हैं जो वे मन पर डालते हैं। मान लीजिये कि कभी रात्रि में आप मित्रों के साथ जा रहे हैं। रस्सी देखी और सांप समझकर डरे। तुरन्त भूल ज्ञात हुई और मित्रों में भय का संस्कार, उपहास न हो, इसलिये वह संस्कार दबा दिया गया ; बात गयी-बीती हो गयी। अब अचानक आप अंधेरे में जाते डरते हैं और अकारण हृदय धड़कने लगता है, इसका कारण वही पुराना भय का संस्कार है।

यूरोपियन मानसशास्त्र वेत्ताओं ने ऐसे कई तथ्यों का पता लगाया है। एक स्त्री बहुत स्वस्थ थी, साधारण स्थिति में वह अच्छी प्रकार बर्ताव करती थी। किन्तु एक विशेष व्यक्ति को एक दिन देखते ही वह क्रोध

से पागल हो गयी। स्वस्थ होने पर पूछा गया तो वह कोई भी उचित कारण न बता सकी। उस व्यक्ति को उसने पहले कभी नहीं देखा था। छानबीन करने पर पता लगा कि वह बचपन में ऐसी ही शकल के एक व्यक्ति के द्वारा ठगी गयी थी।

ये विषमजाल के संस्कार, प्रकट होने का प्रबल प्रयत्न करते रहते हैं। उनका एक मात्र उद्देश्य होता है प्रकट हो जाना। बहिर्मन उन्हें प्रकट तो होने नहीं देता, फलस्वरूप उनका अन्तर्मन पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कभी-कभी भयंकर हो जाता है और बीमारी का रूप धारण कर लेता है। सामान्यतः मन को उस विकार के कारण का पता नहीं होता।

इस प्रकार के समस्त विकार, उनके कारणभूत संस्कार को जान लेने पर शान्त हो जाते हैं। जहाँ पता लगा कि यह विकार अमुक संस्कार का फल है, वहीं उस संस्कार का प्राकट्य हो जाता है और विकार नष्ट हो जाता है। उस संस्कार का पता कैसे लगे ? यह बात मानस चिकित्सा के प्रकरण में वर्णित होगी।

* * *

मानसिक लिप्सा

: १४ :

मनोनिरोध या किसी भी मानसिक साधना में लगने के पूर्व साधक को इस मानसिक लिप्सा से पृथक् होना चाहिये। मानसिक लिप्सा का अर्थ है कि जिसे हम पा नहीं सकते, जिसे पाने की कोई आशा नहीं, जिसके उपयोग की शरीर में शक्ति नहीं या जो सामाजिक या धार्मिक नियमों के कारण अपने लिये निरुपयोगी है, उसके लिये भी लालायित रहना। व्यर्थ में उसे पाने की कल्पना करना। शेखचिल्ली की कल्पना इसी को कहते हैं।

प्रत्येक प्रकार की लिप्सा (राग या लोभ), साधक के लिये त्याज्य है, किन्तु इस कोरी लिप्सा से केवल मानसिक-शक्ति के अपव्यय के अलावा दूसरा कुछ नहीं होता। जिस व्यक्ति में इस प्रकार की कल्पनाएँ प्रविष्ट हो जायेंगी, वह कभी अपने किसी कार्य में पूर्णतः सफल न होगा। ऐसा व्यक्ति कार्य तो एक स्थान पर करता है और उसके नेत्र तथा श्रवण कहीं और की खबर लेते रहते हैं। उसका वर्तमान कार्य भी इस अव्यवस्था में नष्ट हो जाता है।

बच्चों और वृद्धों में यह मानसिक लिप्सा बहुत होती है। युवकों को दूसरी श्रेणी में रखा जा सकता है। व्यवहार का भार आ जाने के पश्चात्, प्रौढ़ व्यक्ति में इस लिप्सा का बहुत कुछ अभाव हो जाता है। बच्चे में तो यह इसलिये रहती है कि वह समझ नहीं सकता कि मैं इसे पा सकूंगा या नहीं, अथवा मेरे लिये इसका उपयोग है या नहीं। उसमें एक प्रकार की अनुकरण वृत्ति होती है और वह जैसा देखता है वैसा ही करना चाहता है। वृद्ध की अतृप्त वासना और युवक की उद्दीप्त वासना उसकी विचार शक्ति को शिथिल कर देती है। वे बिना विचारे इस प्रवाह में प्रवाहित होते रहते हैं।

जब मानसिक लिप्सा अत्यधिक बढ़ जाती है तो बुद्धि का एक प्रकार से अभाव हो जाता है। वह व्यक्ति दूसरों के व्यंग्य भी नहीं समझता और अपने को लोगों का उपहासपात्र बनाया करता है। आपने अवश्य ऐसे एकाध वृद्धों को देखा होगा जो ब्याह के लिये लालायित रहते हैं। लोग व्यंग्य से उनका ब्याह कराने की बात करते हैं और वे उसमें अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। ऐसे ही लोभ, मोह सम्बन्धी लिप्साएँ भी वृद्धों में होती हैं।

युवक अपनी परिस्थिति और शक्ति पर विचार नहीं करना चाहता। उसका मन लम्बी योजनाएं बनाता है और कवियों की भाँति वह स्वप्न देखा करता है। वह उसे शक्य और आदर्श कह सकता है, पर है वह एक स्वप्न। यद्यपि उसकी विचार-शक्ति उसे इतना मूढ़ नहीं होने देती, जिससे वह दूसरों के लिये उपहासास्पद बने, किन्तु उसका अपना उद्योग और श्रम उस आवेश में व्यर्थ हो जाता है। उसे अपनी विफलता पर खेद होता है और वह उसका दोष समाज, सहयोगी या ऐसे ही किसी और के सिर मढ़ना चाहता है।

मानसिक लिप्सा, जिसे गीता में भगवान ने कामजन्य मोह कहा है, यह स्वभाव रखती है कि वह उदित होते ही स्मृति और विचार-शक्ति को दबा देती है। बहिर्मन निर्णायक मन से स्वच्छन्द होकर अपनी योजना बनाने लगता है। श्रम, शक्ति और उद्योग – तीनों का इससे नाश होता है। पाप और अपयश इसी लिप्सा के परिणाम हैं। व्यक्ति का इस लिप्सा के कारण भयंकर रीति से अधःपात होता है। जहाँ यह लिप्सा उच्च एवं श्रेष्ठ लक्ष्य के लिये भी होती है, वहाँ विफल होने पर निराशा के साथ अविश्वास और अश्रद्धा होती है। लिप्सा के अर्थ में यहाँ भूल नहीं करनी चाहिये। लिप्सा हम उसी को कहते हैं जिसमें व्यक्ति असाधारण रीति से अप्राप्य या दुष्प्राप्य को पाना चाहता हो।

“असम्भव कोई वस्तु नहीं, तुम सब कुछ करने में समर्थ हो, हतोत्साहित होना निर्बलता है।” – पर अपनी शक्ति को देखो, सावधानी से साधन करो। आतुर और उतावला बनना अपने को लक्ष्य से गिरा देना है। कहीं भी आसक्ति और राग नहीं होना चाहिये। जब भी तुम फल की

इच्छा करोगे, इस मानस-लिप्सा के जाल में पड़ने से बच नहीं सकते।

मानसिक लिप्सा उत्पन्न क्यों होती है ? इसका सबसे प्रधान कारण है मन को बेकार रखना। शरीर को कार्य में लगाने से ही काम नहीं चलता। मन का स्वभाव है कि वह वर्तमान में नहीं रहना चाहता। वर्तमान के कार्य और विचार का चिन्तन मन बहुत कम करता है। यदि मन वर्तमान में लगा रहे तो साधना को पूर्ण हुआ समझना चाहिये। मन या तो भविष्य की सोचता है, शेखचिल्ली के महल बनाता है और मानसिक-लिप्सा उत्पन्न करता है, या भूत की (बीती) बातों पर पश्चात्ताप करके “यदि ऐसा होता, तो यह हो गया होता” का चित्र खींचता है। यह भी लिप्सा ही है।

शरीर को कार्य में लगाये रहना पर्याप्त नहीं। मन को कार्य देना होगा। मन को सोचने के लिए कुछ निरन्तर देते रहो। बहुत कुछ ऐसा हो जो वर्तमान से सम्बन्धित होते हुये भी मन को विचार शक्ति की ओर बढ़ाये। जैसे पूजा करते समय आराध्य की लीलाओं का चिन्तन और मकान बनाते समय मिट्टी, पत्थर आदि के भेदों का वैज्ञानिक विश्लेषण। मन में विचार शक्ति की जितनी प्रधानता होगी, मानसिक लिप्सा का उतना ही अभाव होगा। सदाचारी एवं संयमित जीवन में इस लिप्सा को स्थान ही नहीं। मनोनिरोध के पूर्व, इन व्यर्थ की कल्पनाओं को दबाना होगा। जो कल्पनाओं से छुटकारा नहीं पाता, वह वासना से छूटने की आशा नहीं कर सकता।

मानसिक लिप्सा प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ होती है। कुतूहल वृत्ति इसका पूर्वरूप है। आप जा रहे हैं, एक सुन्दर रूप दृष्टि पड़ता है, दृष्टि जाती है ; यहाँ तक तो ठीक है, यह इन्द्रियों का स्वाभाविक आकर्षण है। पर आप उधर ही घूरने लगते हैं, मन में कल्पनायें उठने लगती हैं - “यह क्या ?” यही मानसिक लिप्सा है। एक नयी मशीन आती है और आप काम-धन्धा छोड़कर देखने दौड़ते हैं, यह भी लिप्सा है। यही बढ़कर अन्धलिप्सा हो जाती है। किसी भी कारण से विचार शक्ति के शिथिल पड़ते ही यह प्रबल हो जाती है। वृद्धावस्था में जब

विचार शक्ति शिथिल हो जाती है, प्रायः इसका प्राबल्य होता है।

जो साधक है उसे अपनी कुतूहल वृत्ति का दमन करना होगा। उसमें कुतूहल नहीं होना चाहिये। हाँ, ज्ञान पिपासा तो परमावश्यक है। प्रत्येक भाव को विचार से संयोजित करो। यदि विचार उसमें प्रवृत्त होने की आज्ञा दे तो ठीक ; कोरी उत्सुकता अच्छी नहीं। व्यर्थ की कल्पना के लिए मन को बेकार मत छोड़ो। रिक्त मन तुम्हें साधन शक्ति से भी रिक्त कर देगा।

सबसे सुन्दर एक उपाय है मानसिक लिप्सा को दूर करने और मन की चंचलता को नष्ट करने का। थोड़े दिन के अभ्यास के पश्चात् कोई भी इसे स्वाभाविक बना सकता है। व्यवहार में कोई बाधा नहीं होगी। दूसरा कोई साधन न भी किया जाय तो केवल यही अपरोक्ष साक्षात्कार तक पहुँचा देगा। वह उपाय है - मन से सदा अखण्ड नाम जप। खाते-पीते, जैसे आप काम करते हुए और बातें सोचते रहते हैं, वैसे उनके स्थान पर भगवान के किसी नाम का, जो आप को रुचिकर हो, जप करते रहिये। मन को उसमें लगाये रहिये - इससे बड़ा कोई दूसरा साधन नहीं।

* * *

वासनाओं का नाश नहीं : परिवर्तन

: १५ :

सृष्टि में किसी वस्तु का नाश नहीं होता। जो है, उसका अभाव संभव नहीं। नाश या मृत्यु का अर्थ केवल रूप परिवर्तन होता है। मनोनिरोध या वासनानाश के लिये भी यही नियम है। वासना का मन से कभी अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता और न साधन का यह उद्देश्य है। ऐसा समझना कि वासना का अभाव हो जायगा, एक भ्रान्ति है। साधन का उद्देश्य है वासना के रूप को परिवर्तित कर देना।

मनुष्य को स्वाभाविक रूप से ईश्वर की ओर से जो कुछ भी मिला है, वह उसके कल्याण के लिये है। उसमें से ऐसा कुछ भी नहीं जो व्यर्थ या हानिकारक हो। आत्म-कल्याण के पथ में उन सबका उपयोग है। वासनाएँ ईश्वरीय देन हैं। वे ऐसी देन हैं जिनके बिना न तो संसार चल सकता और न परमार्थ। व्यवहार का मूलाधार और साधन की भित्ति उन्हीं पर स्थिर है। मनुष्य जब उनका दुरुपयोग करता है, तो उनका रूप विकृत हो जाता है और वे पतन का कारण होती हैं। जब उनका सदुपयोग होता है, तो वे आत्म-कल्याण करती हैं।

हम मन का स्वरूप समझाते हुये पहले अध्याय में बता आये हैं कि मन का मूलरूप सात्त्विक है। वह हमारे विकारों से विकृत होकर हमारे पतन का कारण हो गया है। मन को छोड़ देने से साधन नहीं होगा, साधन तो मन के द्वारा ही होगा। आत्म-कल्याण मन ही करेगा। पर मन के विकारों को दूर करना होगा। वासनाएँ भी अपने मूलरूप में विशुद्ध हैं। वे आत्मदर्शन के लिये ही हमें प्राप्त हुई हैं। पर हमारे दुरुपयोग के कारण वे विकृत हो गयीं और पतन का कारण हो रही हैं।

अनादि काल से मानव इन वासनाओं का दुरुपयोग करता आ

रहा है। वह अपनी भूल तो समझता नहीं, दोष वासनाओं को देता है। अब उसके भीतर यह विश्वास घर कर गया है कि आत्मपतन का कारण वासनाएँ ही हैं। यह निश्चय हो गया है कि बिना वासना-नाश के आत्मोद्धार हो नहीं सकता। वह यह नहीं देखता कि वासनाओं का सदुपयोग भी हो सकता है।

वासनाएँ असंख्य नहीं। इनके जो ये असंख्य भेद दिखलायी देते हैं, वे केवल उनके रूपान्तर हैं। मूल में वासनाएँ त्रिविध हैं - प्रेम, विरक्ति और संचय। आकर्षण, विकर्षण और स्थिति - प्रकृति की ये तीन शक्तियाँ मन में इन तीन रूपों में प्रकट होती हैं। व्यक्ति जब इनमें अपने छुद्र स्वार्थ एवं इन्द्रिय लालसा को मिला देता है, तो इनका रूप हो जाता है - काम, क्रोध और लोभ।

इन्हीं की शाखाओं या रूपान्तरों से सात्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ बनती हैं। प्रेम जब स्वार्थ से दूषित नहीं होता तो वह स्नेह, मैत्री, प्रतिभा, दया, क्षमा प्रभृति में समयानुसार परिवर्तित होता रहता है। विरक्ति के रूप वैराग्य, पाप से घृणा, अन्याय का दमन, शौर्य, तेज, दक्षता, उत्साह, वीरता आदि होते हैं। संचय वृत्ति, साधन-निष्ठा, दीन-रक्षण, स्वास्थ्य, व्यायाम, स्मृति, मेधा, धैर्य प्रभृति का कारण होती है।

जब मनुष्य में वैयक्तिक स्वार्थ प्रधान होता है, तो ये शुद्ध भावनाएँ विकृत हो जाती हैं। इनका रूप काम, क्रोध और लोभ होता है। काम से राग, व्यभिचार, मोह आदि, क्रोध से ईर्ष्या, द्वेष, अमर्ष, घृणा, पीड़ा प्रभृति तथा लोभ से कृपणता, शोषण, संग्रह आदि पतनकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। मूल भावनाएँ परिस्थिति एवं बहिर्मन तथा निर्णायक मन की प्रेरणा के अनुसार पलट जाती हैं।

एक शिशु है, वह अपनी माता से प्रेम करता है। उसकी स्वभावतः प्रवृत्ति चिड़ियों के प्रति होती है। यह उसकी प्रेमवृत्ति है। इन्द्रिय लालसा जागृत होते ही वही काम हो जाती हैं और निर्णायक मन की प्रेरणा से प्रतिभा भी। यदि वह बड़ा होकर साधन करे, तो वही वृत्ति शुद्ध होकर उसे ज्ञान या भक्ति के रूप में मिलेगी तथा उसका आत्मकल्याण कर

देगी। बच्चे को किसी ने अन्न खिलाना चाहा तो वह प्रतिकार करता है। यह स्वाभाविक विरक्ति है। बड़े होने पर वैयक्तिक स्वार्थ की प्रेरणा से वह क्रोध, अमर्ष, रोष, ईर्ष्या, द्वेष में परिणित होगी। सदुपयोग करने पर शौर्य, दक्षता आदि का रूप लेगी। विशुद्ध रूप में वह वैराग्य है। बच्चा कुछ लोगों से डरता है, क्यों? यह उसकी संचयवृत्ति है। बड़े होने पर यह भय और लोभ हो जायेगी। वस्तुतः यह साधन निष्ठा है।

हममें उठने वाली प्रत्येक वृत्ति आकर्षण, विकर्षण और स्थिति - प्रकृति की इन्हीं तीन अवस्थाओं का रूप है। इनमें से भी स्थिति केवल भ्रान्ति है। वह आकर्षण गति की एक अवस्था विशेष है। प्रकृति में केवल द्वन्द्व है। इस विश्लेषण के आधार पर हमें कहना पड़ेगा कि संचय प्रेम का ही रूप है। काम की सीमा में ही लोभ भी आ जाता है। पवित्र रूप में दो क्रियाएँ हैं - प्रेम और विरक्ति। वैयक्तिक स्वार्थ प्रधान होने पर दो ही रूप प्रधान होते हैं - काम और क्रोध।

जितना-जितना मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होता है, उसमें सात्त्विक वासनाओं का उदय होता है। काम प्रेम की ओर, और क्रोध विरक्ति की ओर बदलता जाता है। दया, क्षमा, रक्षण, उपकार, पाप से घृणा तथा विरक्ति प्रभृति शुभेच्छाओं का उदय होता है। दुष्कर्मों से निवृत्ति होती जाती है।

वासनाओं के परिवर्तन को समझ लेने के पश्चात् उनका क्रियात्मक परिवर्तन साधक के लिये कठिन नहीं रह जाता। कठिनता तो तब रहती है, जब साधक एक वासना को रोकने या मिटाने के लिये उससे युद्ध करता है। ऐसी अवस्था में वह वासना चाहे थोड़ी देर को दब जाये, पर पुनः वह बड़े भयंकर रूप से उठती है। उस समय उसे रोकना कठिन हो जाता है। व्यर्थ का श्रम हाथ रहता है।

एक ही वासना एक साथ दो रूपों में नहीं रह सकती; या तो काम रूप में रहेगी या प्रेम रूप में। क्रोध - या तो क्रोध रहेगा या वैराग्य। साधक को चाहिये कि उसे जिस वासना को दबाना अभीष्ट हो, उस वासना के दूसरे रूप को अपने में स्थान दे। प्रतिकारी वासना जितनी दृढ़

होगी, पहली उतनी कम होती जायगी। जिसे बहुत ईर्ष्या होती है, उसे ईर्ष्या के दूसरे रूप स्वदोष-दर्शन का अभ्यास करना चाहिये।

प्रकरण का अन्त करते हुये एक बात बता देना है कि जिसके हृदय पर तमोगुण का जितना गहरा आवरण होगा, उसमें उतनी अल्पवेग वासनाएँ होंगी। वासनाएँ तो उसमें बहुत होंगी, पर उनका वेग शिथिल होगा। जिसमें दूषित वासनाओं का वेग शिथिल है, वह यदि साधन में लगेगा तो साधन का वेग भी शिथिल होगा। देखा गया है कि जिनमें दूषित वासनाएँ प्रबल होती हैं, वे साधन में लगकर बड़े उच्च कोटि तक शीघ्र पहुँचते हैं। उनके साधन का वेग भी तीव्र होता है।

जो बड़ा कामी है, वह सुधरने पर बड़ा व्यक्ति होगा। सूर, तुलसी और बिल्वमंगल इसके उदाहरण हैं। जो बहुत क्रोधी है, वे बड़े विरक्त हो सकते हैं। भक्तमाल में ऐसे कुछ डाकुओं का चरित्र है। महर्षि दुर्वासा पुराणों में प्रसिद्ध हैं। बात यह है कि मूल भावना जितनी प्रबल होगी, विकार भी उतना ही प्रबल होगा और सुधार की गति भी वैसी ही। जिसमें कोई वासना या भावना प्रबल नहीं, उसका सुधार बहुत कठिन है।

* * *

अभ्यास और दबाव

: १६ :

मनोनिरोध या मानसिक साधन आरम्भ करने से पूर्व साधक को सबसे पहले विघ्नों को जान लेना चाहिये। विघ्नों को जाने बिना उनसे बचा नहीं जा सकता। यों तो साधन में बहुत से विघ्न आते हैं, उन्हें विस्तार से समझने के लिये पुस्तकों से काम नहीं चल सकता। साधक की परिस्थिति के अनुसार विघ्नों का उत्थान होता है और तदनुसार प्रतिकार भी। यह बात तो किसी जानकार से जानना चाहिये।

हमें यहां एक मूल विघ्न बताना है। यह है उतावलापन। प्रायः बड़े-बड़े साधक भी इस उतावलेपन में पड़ जाते हैं। प्रकृति का स्वभाव है कि जहाँ आघात होगा, वहाँ प्रतिघात भी। मन पर जितना अधिक दबाव डाला जायगा, वहां से उतना ही बल प्रतिघात होगा। बल प्रयोग किसी भी साधन में कभी भी लाभदायक नहीं, यह सदा स्मरण रखना चाहिये।

साधक जब साधन का आरम्भ करते हैं तो उनमें उत्साह होता है। वे उस उत्साह को नियन्त्रित नहीं कर पाते। आरम्भ में अधिक से अधिक साधन बढ़ा लेने की धुन होती है और इस धुन में मन पर अधिक से अधिक दबाव डाला जाता है। फल यह होता है कि थोड़े दिन बाद मन साधन में नहीं लगता। वासनाएँ और प्रबलता से उठने लगती हैं। साधक ऐसा अनुभव करता है कि वह उससे भी नीचे पहुंच गया, जहाँ साधन आरम्भ करने से पूर्व था। कारण क्या है? मान लीजिये कि आप पहले दिन अखाड़े में गये और पचास बैठकें लगा लीं। परिणाम यह होगा कि दूसरे दिन दस भी कठिन हो जायेंगी और शरीर भी निर्बल ज्ञात होगा। साधन मानसिक व्यायाम है और उसे व्यायाम की भाँति बढ़ाना चाहिये।

लोग ध्रुव, प्रह्लाद, एकनाथ, ज्ञानेश्वर या वर्तमान समय के किसी

महापुरुष के उग्र साधन की बात पढ़ते या सुनते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि वे महापुरुष कितना सक्षम हृदय रखते हैं और कितनी जन्मान्तर की साधनाओं के पश्चात् यहाँ पहुँचे हैं। “मैं भी ऐसा करूँगा और वह फल प्राप्त कर लूँगा” यह दृढ़ विचार होता है। प्रायः प्रथम सभी साधक ऐसी भूमिका से आते हैं। बड़े वेग से त्याग, तपस्या और मन पर दबाव डालना आरम्भ होता है। किन्तु थोड़े समय पश्चात् उत्साह शान्त हो जाता है, निराशा हो जाती है, श्रम उलटे फल लाता है। इस प्रकार बार-बार भ्रान्त होने पर तो कहीं ठीक समझ आ पाती है।

बड़े वेग से साधन आरम्भ करने के पश्चात् जब मन प्रतिकार करता है, तो साधक उस प्रतिघात के वेग से पहली स्थिति से भी च्युत हो जाता है। कभी-कभी तो वह अश्रद्धालु और नास्तिक हो जाता है। यदि ऐसा न भी हुआ तो प्रतिघात का वेग कुछ समय लेता है। निराशा धीरे-धीरे मिटती है, तब कहीं पुनः साधन में रुचि होती है। यदि पहले वह बल प्रयोग न करता, तो इतने समय में अभ्यास के द्वारा बहुत तरक्की कर लेता।

मैं ऐसे महात्माओं की सन्निधि में पहुँचा हूँ, जिन्होंने बरसों नंगे शरीर खुले आकाश में बिताये हैं, जो अहर्निश बरसों रोते रहे हैं, जो मनुष्यों के पास कई वर्ष नहीं आये; कठोर तितिक्षा की उन्होंने सीमा कर दी। किन्तु जब वे उन साधनों से निवृत्त हुये, तो अब साधन काटने दौड़ता है। दो माला जप भी कठिन है। सम्मान और शासन तथा शरीर को सुख देने की इच्छा बड़ी प्रबल हो गयी है। वे इसे जानते हैं, पर विवश हैं। मन से उस आघात का प्रतिघात हो रहा है। उसे रोकना अब शक्य नहीं, क्योंकि वह आघात के समान ही बलवान है।

आपने कभी सर्कस में देखा होगा कि पात्र कितने अद्भुत दृश्य दिखलाते हैं। पानी से भरा ताँबे का बड़ा घड़ा दाँतों से उठाकर उसका जल गिरा देना उनके लिये एक सामान्य बात है। सीने पर बड़ा-सा गजराज चढ़ा लेते हैं। पर यह एक दिन में नहीं होता। जो उनकी नकल करना चाहेगा वह अपने दाँत तोड़ लेगा या हाथी के पैरों के नीचे पिस जायगा। किन्तु उनकी भाँति धैर्यपूर्वक अभ्यास करने से वह सब कर

सकता है। लोटा उठाते-उठाते घड़ा उठाया जा सकेगा। गज-शिशु को धारण करते-करते गज भी वक्ष पर आ सकता है। इसी प्रकार महापुरुषों की महान् साधना, क्रमिक अभ्यास में अपनायी जा सकती है, किन्तु सहसा साहस वहाँ विपरीत फल प्रकट करेगा।

साधक में धैर्य होना चाहिये। मनुष्य जीवन अनन्त है। मृत्यु जीवन का अन्त नहीं करती। वह तो एक बड़े नाटक का पट-परिवर्तन मात्र है। भगवान् ने गीता में घोषणा कर रखी है कि साधक का नाश नहीं होता। यदि वर्तमान जीवन में साधना पूर्ण न हुई, तो वह दूसरे जन्म में उसे पूर्ण करने को प्रवृत्त होगा। उतावलापन साधन-मार्ग के लिये अत्यन्त घातक है।

प्रत्येक कार्य अभ्यास से हो जाता है। जितना विष खाकर साधारण लोग मृत्यु की भेंट हो जाते हैं, उसकी कई गुनी बड़ी मात्रा एक दीर्घ अभ्यासी पचा लेता है। क्यों? इसलिये कि धीरे-धीरे उसने विष पचाने का अभ्यास किया है। आज साधन असम्भव प्रतीत होता है, पर वह धीरे-धीरे अभ्यास करने पर अत्यन्त सुगम और स्वाभाविक हो जायेगा। उसके लिये फिर कोई विशेष प्रयास या श्रम नहीं करना पड़ेगा। अतः जो सफलता चाहता है, उसे धीरतापूर्वक अभ्यास करना चाहिये। त्याग, तपस्या, तितिक्षा - सब अभ्यास से संभव हैं।

एक अच्छा बलवान और स्वस्थ युवक अखाड़े में प्रथम दिन जाता है। शिक्षक उसे पाँच बैठक से अधिक नहीं करने देता। यद्यपि वह करना चाहे, तो बिना श्रम पचास कर सकता है। किन्तु यदि आज पचास कर लेगा तो कल शरीर में दर्द होगा और पचास के बदले बीस ही कर सकेगा। आज पाँच करके कल वह सात सरलता से कर सकता है। पाँच से दस बढ़ना भी अनुकूल नहीं और बढ़ेगा भी उसकी शक्ति की सीमा तक। फिर वह संख्या स्थिर हो जायेगी।

यही साधन का क्रम है। आरम्भ में अधिक की क्षमता रखते हुये भी एक मिनट से प्रारम्भ करो। बढ़ाने का क्रम बहुत कम रखो। कई दिन तक बढ़ाओ मत। जब मन उतना प्रसन्नता से सहन कर ले तब

बढ़ाओ। बढ़ाते मत चले जाओ। प्रत्येक मात्रा बढ़ाने के पश्चात् कम से कम एक सप्ताह का अवकाश दो, जिससे मन उसे पचा ले। उतना करने का अभ्यासी हो जाये। जब मात्रा दस या पन्द्रह मिनट पर पहुँच जाये तो भी नाममात्र को एक या आधा मिनट बढ़ाने का क्रम रखो। समय अवश्य लगेगा, पर विघ्नों से सुरक्षित रहोगे। पतन का भय दूर रहेगा। इतना बढ़ाओ जिसे फिर घटाने की आवश्यकता कभी न पड़े।

जिस दिन साधन के समय मन न लगे, बल प्रयोग मत करो, मन को अन्य साधन दो। जैसे ध्यान के बदले लीला-ध्यान, जप या पाठ। उसमें भी मन न लगे तो उसका निरीक्षण करो। उसे विचार शृंखला देकर लक्ष्य तक लाओ। इतने से भी काम न चले तो उसे थोड़ी देर छोड़ दो। जो वह सोचना चाहता है, सोच लेने दो। यदि मन बहुत उद्विग्न हो और सर्वथा न लगे तो दो-चार घण्टे को साधन रोककर उसे किसी प्रिय कार्य में लगाओ। कोई दूसरा काम करो। कभी साधन में उतावलापन और बल-प्रयोग करने की भूल नहीं होनी चाहिये।

* * *

वैराग्य

: १७ :

मन पर दबाव न डाला जाय, इसका अर्थ यह नहीं होता कि मन जो कुछ भी मांगे, वह उसे दे दिया जाया करे। मानसिक विलासिता को तो दूर करना ही होगा। मन पर दबाव डालना साधक के लिये जितना हानिकारक है, उसे विलासी बनाना उससे भी अधिक। दबाव डालकर तो साधन चलता भी है, प्रतिघात के पश्चात् पुनः प्रगति की आशा रहती है, पर विलासी कुछ भी नहीं कर सकता। दबाव डालना रजोगुण का धर्म है और विलास तथा प्रमाद तमोगुण का। साधक को सदा तमोगुण से दूर रहना चाहिये।

प्रकृति का नियम है कि बिना कुछ त्याग किये कुछ मिलता नहीं। कुछ भी पाना हो तो त्याग करना पड़ेगा। जितनी महान् वस्तु को पाना होगा उतना महान् त्याग भी करना पड़ेगा। जब आप बड़ी नौकरी चाहते हैं, तो छोटी को छोड़ना पड़ता है। अतः यदि आप परमात्मा को पाना चाहते हैं, तो संसार को छोड़ना होगा। संसार को छोड़ना चाहे शक्य न हो, पर मन से तो संसार को निकालना ही पड़ेगा। भव और भौतिक वस्तुओं में आसक्ति रखते हुये परमार्थ में प्रगति सम्भव नहीं।

यदि साधक की किसी वस्तु में आसक्ति रहेगी तो मन बार-बार उधर ही जायेगा। साधन के समय भी चित्त उसी का चिन्तन करेगा। आवश्यक यह है कि लक्ष्य के अतिरिक्त मन में और किसी को भी स्थान न हो। कोई भी बाह्य वस्तु या व्यक्ति इतना प्रिय न हो, जिसके हानि-लाभ का समाचार साधन से मन को विचलित कर सके। शरीर में भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये, अन्यथा शारीरिक असुविधाएँ ही साधन न करने देंगी।

दबाव न डालने का इतना ही अर्थ है कि शरीर या मन पर ऐसा

अस्वाभाविक बल नहीं पड़ना चाहिये कि मन बल-प्रयोग में लगा रहे। भूखे रहने पर पेट की चिन्ता होना स्वाभाविक है, नंगे रहने पर शीत मन को विक्षिप्त करेगा। वर्षा में भीगते हुये मन को साधन में लगाये रहना सरल नहीं। इन अनिवार्य आवश्यकताओं की निवृत्ति होनी चाहिये। इसी प्रकार कृमिपूर्ण स्थान में, आसन या आवरण आवश्यक है।

व्यक्ति के परंपरागत स्वभाव के अनुसार उसकी आवश्यकताएँ होती हैं। जो एक के लिये विलास की सामग्री है, वही दूसरे के लिये स्वाभाविक। जो कल राजा था, वह आज चने की रोटी नहीं पचा सकेगा। उसके लिये सामान्यतः अच्छा भोजन आवश्यक है, जब कि वही एक मजदूर के लिये विलास हो जायेगा। रोगी और स्वस्थ की आवश्यकताएँ भी पृथक्-पृथक् होंगी। बात यह है कि चिर-अभ्यास के द्वारा शरीर और मन को हमने जैसा बना दिया है, उसके अनुसार चलना स्वाभाविक है और उसे उससे अधिक सुविधा देना विलास। अभ्यास के द्वारा आवश्यकता घटायी जा सकती है, पर सहसा उसका त्याग लाभदायक नहीं हो सकता।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि वैराग्य और दबाव दोनों कर्म हैं। जब तक साधक को शरीर का ज्ञान है “मैं क्या कर रहा हूँ” - यह बोध है, तभी तक नियम भी हैं। जब लक्ष्य में मन इतना तल्लीन हो जाय कि शरीर का भान न रहे तो कोई नियम नहीं हो सकता। नियम हो भी, तो पालन कौन करेगा। प्रेम की तीव्र अवस्था में प्रेमी न खाता है, न पीता है, न सोता है। वह वर्षा और सर्दी में नंगा पड़ा रहता और रोया करता है। पर यह दबाव नहीं। उसे शरीर की सुधि नहीं रहती। मन जब शरीर से सम्बन्ध नहीं रखता, तो उसकी अवस्था का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा त्याग किया नहीं जाता, वह स्वतः हो जाता है। वह त्याग साधक को अभिप्रेत भी नहीं होता। वह स्वाभाविक हो जाता है।

मनुष्य के लिए आवश्यक है केवल साधारणतया आवश्यकता की पूर्ति; पर मानसिक लिप्सा उसे विलासी बना देती है। वह भोगों में व्यर्थ में आसक्ति कर लेता है। इसी आसक्ति का त्याग वैराग्य है। “यह मेरा है” और “मैं इसके द्वारा सुखी हो रहा हूँ” - यही दो मिथ्या भावनाएँ

उसके अन्तर में स्थान बनाये हुए हैं।

एक मकान है, बनवाने के पश्चात् आप उसमें कभी रहे नहीं। उसमें रहने वाला भी कोई ऐसा व्यक्ति है जो किराया नहीं देता, पर यदि मकान का कोई हिस्सा गिर जाय तो कष्ट किसे होगा ? आपको। क्यों ? इसलिये कि आप उसे अपना समझते हैं। एक मैनेजर करोड़ों का व्यापार करता है। वह कितना खरीदता और बेचता है, इसे मालिक नित्य देखता भी नहीं। पर यदि सहसा घाटा हो जाये या दिवाला निकल जाये, तो मैनेजर को तनिक भी नहीं या नाममात्र का कष्ट होगा। क्यों ? इसीलिये कि व्यापार को वह अपना नहीं समझता।

एक वस्त्र है, आप उसे फटा और गन्दा समझ फेंक देते हैं। आपका नौकर उसे पहनकर प्रसन्न होता है। क्यों ? इसलिये कि वह मान लेता है “मैं सुखी हूँ।” जिस वस्त्र को पाने के लिये आप लालायित हैं और जिसे पाकर सुखी होंगे, उसे एक राजा को पहना दिया जाये तो उसे बड़ा क्लेश होगा। क्यों ? इसलिये कि वह अपने को दुःखी मान लेगा। सुख और दुःख वस्तुओं में नहीं, वह भावना में है। “मेरे पास इतना बड़ा भवन या इतना धन है, मैं इतनी अच्छी वस्तु पा गया, मैं सुखद स्थिति में हूँ” – ये भावनाएँ सुख का कारण हैं और “मेरे पास थोड़ा धन या रद्दी भवन है, मेरा घर टूट गया, मेरे पास अच्छी वस्तु नहीं, मैं दुःखद स्थिति में हूँ” – ये भावनाएँ दुःख का कारण हैं।

भोजन चाहे लड्डू हो या सूखी रोटी, गले के नीचे दोनों का स्वाद समान है। पेट दोनों से भर जाता है और शरीर निर्वाह दोनों से हो जाता है। स्वाद भी कोई स्थिर वस्तु नहीं, एक को लड्डू में भी स्वाद नहीं आता और भूखा रोटी में भी स्वाद का अनुभव करता है। शीत निवारण और शरीर का आच्छादन – कम्बल और रेशम, दोनों से हो जाता है। चमक भी अच्छाई का कारण नहीं। कल तक रेशम अच्छा था और आज खदर अच्छा हो गया। वर्षा से रक्षा झोपड़ी में भी होती है और महल में भी। सोते समय चारपाई से अधिक स्थान कहीं नहीं घिरता और न निद्रा में स्थान का पता रहता। न तो रात-दिन झोपड़ी में कोई रहता और न राज

भवन में। “यह अच्छा एवं सुखद है” और “यह बुरा तथा दुखद” – ये केवल मनुष्य की मानी हुई भावनाएँ हैं। ये भावनाएँ भी परिस्थिति, देश, काल आदि के अनुसार बदलती हैं। जो भारत में अच्छा है, वह योरोप में बुरा, जो किसान के लिए स्वच्छ वस्त्र है, वह डाक्टर के लिए मैला।

वैराग्य का अर्थ है विचार के द्वारा इन मिथ्या भावनाओं पर विजय पाना। इस “अच्छा और बुरा”, “मेरा और दूसरे का” की कल्पना को हृदय से निकाल देना। इसी मिथ्या कल्पना के कारण मनुष्य इनमें आसक्त है। जब मानने में ही सुख-दुःख है, तो सदा और सब स्थिति में अपने को सुखी अनुभव करना, सन्तुष्ट रहना और किसी भी वस्तु की अपेक्षा न रखना।

सुख वस्तुओं में नहीं है। सुख का अनन्त भण्डार अपने भीतर है। प्रत्येक व्यक्ति भीतर से ही उसकी उपलब्धि करता है। किन्तु भ्रम के कारण वह उसे वस्तुओं में मान लेता है। मन की चंचलता उस अन्तर के आनन्द की अवरोधक है। जब मन किसी अभीष्ट वस्तु को पाता है, तो एक क्षण को शान्त हो जाता है। उस स्थिरता में भीतर का आनन्द प्रकट होता है। यदि वस्तु में आनन्द हो, तो वह सबको और सदा आनन्द दे। पर एक वस्तु एक को सुख देती है, तो वही दूसरे को दुःख भी दे सकती है। एक अवस्था में वह सुखद है, तो दूसरी में दुःखद भी। फिर किसी वस्तु के मिलने से आनन्द स्थायी नहीं होता। मन कुछ काल पश्चात् चंचल हो जाता है और वह सुख नष्ट हो जाता है। यद्यपि वह वस्तु पास ही रहती है। अतः विचार के द्वारा वस्तुओं में सुख की मिथ्या भावना पर विजय पाना चाहिये। साधक को सदा विचार करते हुये इस कल्पित भावना को सर्वथा हृदय से दूर कर देना चाहिये।

मनोयोग

: १८ :

किसी कार्य-विशेष में मन का पूर्णतः लग जाना मनोयोग है। कहते हैं कि कोई भील अपने बाणों की नोक पर विष चढ़ाने में लगा था, तभी एक पूरी बारात उधर होकर बाजा बजाते हुये निकल गयी। थोड़ी देर में एक आदमी आया और उसने भील से पूछा - “बारात कितनी दूर गयी होगी?” भील ने आश्चर्य से उत्तर दिया - “इधर से कोई बारात गयी यह मुझे पता नहीं।” इसका अर्थ है कि वह अपने कार्य में मनोयोग पूर्वक लगा था।

पाठकों को अनुभव होगा कि वे जब किसी कार्य में भली प्रकार दत्तचित्त होते हैं, तो किसी की बातचीत या पुकारना नहीं सुन पाते। यह मनोयोग की सामान्य अवस्था है। मनोयोग की उच्चावस्था में मनुष्य को अपने शरीर और शारीरिक क्रियाओं का भी ध्यान नहीं रहता। एक बार न्यूटन अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग कर रहा था। भोजन का समय होने पर नौकर ने मेज पर भोजन लाकर रख दिया और उसे तौलिये से ढक दिया। बीच में एक मित्र आया और उसने भोजन कर लिया। रिक्त पात्र को वह पुनः ढककर चला गया। न्यूटन को कुछ पता न चला, यद्यपि वह बगल की मेज पर प्रयोग कर रहा था। प्रयोग समाप्त करके उसने भोजन के लिये पात्र पर से तौलिया उठाया और पात्र को रिक्त देखकर बोल उठा - “ओह! मैंने तो भोजन कर लिया है।” यह उच्चकोटि के मनोयोग की स्थिति है।

कार्य की सफलता का रहस्य है मनोयोग। महान् पुरुषों की सफलता और महत्ता इसी में है कि वे अपने कार्य में पूर्ण मनोयोग कर लेते हैं। जो मनोयोग नहीं कर पाता, वह पूर्णतः सफलता से कार्य नहीं कर सकता। उसका कार्य एक प्रकार का भार टालना होता है। फल यह

होता है कि वह अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर नहीं उठ पाता।

कार्य तीन प्रकार से होते हैं - साधारण रीति से, बेमन से और मनोयोग-पूर्वक। आपने कार्य आरम्भ किया। शरीर कार्य कर रहा है और मन अपनी उधेड़-बुन में लगा है। यह साधारण रीति है। बहिर्मन संचालकमन को कार्य करने की आज्ञा देकर, अपनी उधेड़-बुन में लग जाता है। संचालकमन यन्त्र की भांति शरीर को उस कार्य में लगाये रहता है। बहिर्मन जहां कार्य में परिवर्तन या रुकावट करने की आवश्यकता होती है, वहां उस समय पहुंच जाता है। बहिर्मन पहले सोच लेता है कि इतने समय या इस अवसर पर दूसरी आज्ञा देनी होगी, ठीक उसी समय वह वहां पहुंच जायेगा। इस प्रकार के निश्चय पर पहुंचने की बहिर्मन की रीति इतनी स्वाभाविक है कि वह प्रायः कम भूलता है। आप सोते समय मन को आज्ञा दें कि इतने बजकर इतने मिनट पर जागना है, तो ठीक उसी समय नींद टूट जायेगी। कभी-कभी मन अपनी उधेड़-बुन में इतना व्यस्त हो जाता है कि उसे अपने पूर्व निश्चय का स्मरण नहीं रहता। ऐसे समय संचालकमन बिना रुके शरीर से वही कार्य कराता रहता है; जैसे आप एक रास्ते पर कुछ सोचते जा रहे हैं, सोचने की धुन में आपको यह भी स्मरण नहीं रहता कि आपको जिस मोड़ से घूमना था, वह पीछे छूट गया। कुछ दूर आगे बढ़ने पर जब मन अपनी धुना-बुनी से लौटता है तो चौंक पड़ता है। इसके लिये मन अपनी भूल पर पश्चाताप भी करता है।

बेमन से जो किया जाता है उसमें मन तनिक भी रुचि नहीं रखता। संचालकमन उसे करना नहीं चाहता, किन्तु निर्णायकमन कहता है “करना ही होगा।” फलतः विवश होकर संचालकमन को करना पड़ता है। बार-बार वह छुटकारा पाना चाहता है, मन भागता फिरता है। ऐसा कार्य प्रायः खराब हो जाता है। उसमें विलम्ब लगता है, श्रम अधिक पड़ता है। नन्हीं-नन्हीं त्रुटियों को दूर करने में घण्टों लगते हैं। बुद्धि ठीक काम नहीं करती। स्पष्ट दोष भी दीख नहीं पड़ते। बार-बार झुंझलाहट होती है। कार्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

कार्य का तीसरा प्रकार है मनोयोगपूर्वक। मन के सम्पूर्ण मार्ग उसी

कार्य पर केन्द्रित हो जाते हैं। मनोयोग जितना गाढ़ होगा, शरीर का ध्यान भी उतना ही विस्मृत हो जायगा। ऐसे समय पर बहिर्मन पूर्णतः उलट-फेर करता रहेगा। “कैसे करने से अच्छा कार्य होगा?” अन्तर्मन चिरविस्मृत संस्कारों को प्रस्तुत करेगा और निर्णायकमन बिना ठहरे ठीक और सत्य निर्णय पर पहुँच जायेगा। संचालकमन पूरी शक्ति का प्रवाह उधर कर देगा।

जो बातें कभी मन में न आयी थीं वे सूझेंगी। आपको अपने आविष्कार पर स्वयं आश्चर्य होगा। ज्ञान का भण्डार आपके लिये खुल जायेगा। वह आपके अन्दर है, बाहर नहीं। आपकी चंचलता इसे रोकती है। मनोयोग होते ही वह प्रकट हो जायेगा। बड़े-बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति और महापुरुष एवं तीव्र बुद्धि लोग, कहीं से अपने अनूठे विचारों को लाते नहीं हैं। उनकी जीवनियों को पढ़िये, पता लगेगा कि उनकी सफलता इसीलिये है कि वे अपने लक्ष्य पर पूर्ण मनोयोग कर लेते हैं।

मनोयोग से कार्य करने पर बड़ी-बड़ी पेचीदा उलझनें शीघ्र सुलझ जाती हैं। बहुत कम समय और शक्ति लगती है। भूल होती ही नहीं। प्रत्येक त्रुटि सम्मुख रहती है। कार्य सुन्दर, पूर्ण और निर्दोष होता है। कार्य के करने के नये-नये सरल और अच्छे ढंग स्वतः निकल आते हैं। छिपी शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। ज्ञान पाने का एकमात्र यही मार्ग है। प्रत्येक खोज मनोयोग के द्वारा पूर्ण होती है। मानसिक साधन वह व्यक्ति कर नहीं सकता, जिसको इसका अभ्यास नहीं।

कार्य कोई छोटा-बड़ा नहीं हुआ करता। महान् पुरुषों का यह लक्षण है कि वे प्रत्येक कार्य को मनोयोग पूर्वक और सुन्दरता से करते हैं। जो साधारण नित्य के छोटे कार्यों में उपेक्षा-भाव रखता है, वह कभी महान् कार्य नहीं कर सकता। “यह तो तुच्छ कार्य है, इसमें मनोयोग की क्या आवश्यकता?” यदि आप ऐसा सोचते हैं तो आप बड़े कार्य में मनोयोग कर नहीं सकते। जो अपनी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता, उससे कैसे आशा की जाये कि वह उच्च परिस्थिति का सदुपयोग करेगा।

प्रकृति में उन्नत होने के लिये अधिकार चाहिये। आज आपको

जितने अधिकार प्राप्त हैं, यदि आप उनका सदुपयोग करते हैं, तो आपको और अधिकार अवश्य मिलेंगे। किन्तु यदि आप उनका उपयोग नहीं करते, तो उनसे भी वंचित होना पड़ेगा।

सभी कार्य मनोयोग की अपेक्षा करते हैं। यह दूसरी बात है कि आप ऐसा नहीं करते और कार्य को बिगाड़ देते हैं। उदाहरण के लिये भोजन करना एक कार्य है, वह दूसरों से बातचीत करते हुए अन्न को गले से नीचे उतारने से भी होता है और धीरे-धीरे रसास्वादन करते, कुचलते हुए मनोयोग-पूर्वक भी। पहली अवस्था में वह ठीक कुचला नहीं जायेगा, चंचल मन होने के कारण पाचक रसों का उसमें ठीक मिश्रण न होगा, शरीर के लिये वह पूर्ण लाभदायक नहीं होगा, उलटे आमाशय को दूषित करेगा। दूसरी दशा में वह ठीक कुचला जायेगा, उसमें उचित पाचक रस मिल सकेंगे, आपके शरीर का उसके द्वारा पूर्णतः पोषण होगा।

मनोयोग और मनोनिरोध में कुछ अन्तर है। यह अन्तर मनोनिरोध शीर्षक प्रकरण पढ़कर आप समझ सकेंगे। जिन कार्यों में मन की स्वाभाविक रुचि है, उनमें सरलता से बिना प्रयत्न मनोयोग हो जाता है। जैसे - खेल, सिनेमा आदि। अभ्यास ऐसा डालना चाहिये कि प्रत्येक इच्छित कार्य में मनोयोग हो सके।

* * *

अध्यात्म और मन तथा मानसिक भ्रान्ति

: १९ :

आत्मा का अधिगमन-प्राप्ति ही अध्यात्म है। इसके साधक, होने वाले साधनों को आध्यात्मिक साधन कहते हैं। देखना यह है कि आत्मा का अधिगमन किसे कहते हैं। परमात्मा नित्य, निरन्तर सब कहीं व्याप्त है। ऐसा एक भी स्थान नहीं जहां किसी क्षण आत्मा का अभाव होता हो। इस नीति से वह नित्य व्याप्त है। आत्मा की प्राप्ति नहीं की जाती - उसका अधिगम होता है। जैसे अग्नि सब कहीं व्याप्त होने पर भी उपलब्ध नहीं होती, इसी प्रकार प्राणिमात्र को आत्मोपलब्धि नहीं हो रही है। राख में ढँकी अग्नि को पाने के लिए जैसे राख को दूर करना पड़ता है, वैसे ही आत्मोपलब्धि के लिए चित्त के मल को दूर करना पड़ता है।

सूर्य का प्रतिबिम्ब सब कहीं किरणों के द्वारा आता है, किन्तु उसे जल-दर्पणादि में ही देख सकते हैं, काष्ठ-प्रस्तरादि में नहीं। कारण यह है कि निर्मल एवं सूक्ष्म पात्र ही उसे ग्रहण करने में समर्थ हैं। सब कहीं व्याप्त होने पर भी, आत्मा का ग्रहण, इसी प्रकार केवल अन्तःकरण में ही हो सकता है ; क्योंकि वही सूक्ष्म एवं निर्मल पात्र है। पर जैसे ढँके हुये, मैले या चंचल जल में प्रतिबिम्ब नहीं ग्रहण होता, वैसे ही चंचल (विक्षिप्त), मैला (मल-युक्त) एवं ढँका हुआ चित्त भी उस व्यापक आत्मा का ग्रहण नहीं करता।

चित्त पर वासनाओं के संस्कारों का मल, कामनाओं का विक्षेप और अज्ञान का आवरण है, इसे दूर करने पर आत्म-प्राप्ति हो सकती है। यह सब चित्त पर हैं, अतः चित्त ही इन्हें दूर भी कर सकता है। मन के द्वारा ही संसार की प्राप्ति हुई है और वही ईश्वर प्राप्ति कराने में भी समर्थ है - “मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।”

“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” – जीवात्मा का परमात्मा से संयोग तभी होता है, जब चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाये। यह निरोध कैसा और कैसे होता है, यह बात तो हम “मनोनिरोध” प्रकरण में लिखेंगे। यहाँ यह देखना है कि मन का अध्यात्म से कितना दृढ़ सम्बन्ध है। साधनों के भेद और उनकी पद्धतियाँ चाहे जितनी भी भिन्न होती हों, पर उनका मूल लक्ष्य है मन को स्थिर करना। शान्त एवं पवित्र मन में ही परमात्मा का प्राकट्य होता है।

चित्त पर तीन प्रतिबन्धक हैं परमात्मा के प्रकट होने के लिये – मल, विक्षेप और आवरण। वह कोई भी साधन हो, यदि वह तीनों में से एक को भी दूर करने की चेष्टा नहीं करता तो वह अधूरा है। प्रत्येक साधन के तीन अंश होते हैं – एक शारीरिक क्रियाएँ (इसमें आसन, पूजा, प्राणायाम आदि सब हैं), दूसरा ध्यान (चाहे कैसा भी हो) और तीसरा विचार तथा भाव निर्माण। इन्हीं तीनों के द्वारा क्रमशः तीनों प्रतिबन्धकों का निवारण होता है। स्वतन्त्र अध्यायों में इन साधनों की आगे विवेचना होगी।

आध्यात्मिक उन्नति और मानसिक उन्नति, ये पर्यायवाची शब्द हैं। अध्यात्म मन से ही सम्बन्ध रखता है। किन्तु मन है बड़ा चंचल। युगों के राजस और तामस संस्कारों को ग्रहण करके, वह अपने वास्तविक सात्त्विक रूप से दूर होकर अत्यन्त धूर्त हो गया है। वह इस प्रकार कभी-कभी साधक को धोखा देता है कि साधक समझ नहीं पाता कि वह किधर जा रहा है। उसका उत्थान हो रहा है या पतन? मानसिक-भ्रान्ति उसे एक भयानक धोखा देती है और वह लक्ष्य तक पहुँचे बिना ही अपने को पहुँचा हुआ समझकर उद्योग छोड़ बैठता है। महर्षि पतञ्जलि इसे “अप्राप्य भूमिकत्व” विघ्न कहते हैं। स्पष्टतया इस विघ्न को समझिये।

एक वस्तु शीघ्रता में आपने एक स्थान पर रख दी और किसी दूसरे कार्य में लग गये। कुछ समय पश्चात् आपको उसकी आवश्यकता पड़ी। आप स्मरण करना चाहते हैं कि आपने उसे कहां रखा। मन कहता है कि उसे चौकी पर रखा था। आपने चौकी पर की सब वस्तुएँ देख डालीं,

पूरा कमरा छान डाला, पर वह मिली नहीं। मन बराबर जोर दे रहा है कि चौकी पर ही रखी थी। आप नौकरों पर झुंझलाते हैं, आने-जाने वालों पर सन्देह करते हैं और घर के लोगों को डांटते हैं। थोड़ी देर में वह सहसा पूजा की कोठरी में मिलती है। स्मरण होता है “मैंने यहां रखा था, भूलकर चौकी पर सोचता था। व्यर्थ में नौकरों को डांटता रहा।”

जिनकी स्मृति दुर्बल है, जिनके ज्ञान-तन्तु शक्तिहीन हैं, उनको प्रायः ऐसा होता है। यह मानसिक-भ्रान्ति का प्राथमिक भाग है। बहिर्मन ने वस्तु के रखते समय अत्यधिक कम ध्यान दिया। अन्तर्मन निर्बल स्नायुजाल से स्थान का पूरा संस्कार न ले सका। आपने मन पर बल दिया कि वह बताये ही कि वस्तु कहां है? मन अपनी ओर से एक कल्पित संस्कार रख देता है। वह उस पर तब तक दृढ़ रहता है जब तक सत्य संस्कार उसे मिल न जाये।

मानसिक-भ्रान्ति का दूसरा पद है भूत। अन्धेरे में जा रहे हैं, भय का संस्कार बहिर्मन को कहता है - “कहीं भूत न आ जाये”; बार-बार बहिर्मन को ऐसी सूचना देता है। फल यह होता है कि अन्तर्मन में भूत के विषय में जैसी कल्पना है, वह जागृत हो जाती है और बहिर्मन के सम्मुख आ जाती है। वस्तुतः भय के आवेश में बहिर्मन इस समय अर्धसुप्त या नशे की हालत में हो गया होता है। उसका निर्णायक मन से संयोग नहीं होता। संस्कार को मूर्तिमान देखते ही घबराकर मन सोचता है - “यह भूत मुझे मार डालेगा।” संचालक मन को ऐसी सूचना मिल जाती है। शरीर में ऐसी क्रिया होने लगती है और मनुष्य रोगाक्रान्त हो जाता है।

चित्त पर जो संस्कार पड़ जाते हैं वे अज्ञात रूप से अपना कार्य करते हैं। एक पात्र मेस्मेरिक निद्रा लाने पर चौंक उठता है “मेंढक” का शब्द सुनते ही। इसका अर्थ यह कि उसके जीवन को बनाने में इस शब्द का विशेष हाथ है। बचपन में वह इसी शब्द से डराया गया है। इसी शब्द ने उसमें भय का संस्कार डाला है। यही कारण है कि बच्चों को व्यर्थ डराना बहुत बुरा माना जाता है।

मानसिक-भ्रान्ति का अन्तिम पद है भगवद्दर्शन या आत्म-साक्षात्कार

की भ्रान्ति। वस्तुतः हमारा मुख्य प्रयोजन इसी भाग से है। लक्ष्य की प्राप्ति या भगवद्दर्शन के दो रूप हैं - एक वास्तविक और दूसरा भ्रान्त। साधन शक्ति के द्वारा मन के पूर्णतः निर्मल होने पर वे सर्व-समर्थ प्रभु साधक को उसके अभीष्ट रूप में दर्शन देते हैं। यह रूप मानसिक नहीं, दिव्य और शुद्ध सत्त्वमय होता है। पर साधन के मध्य में ही साधक की उत्कट इच्छा उसके संस्कारों को व्यक्तरूप दे देती है, साधक इसी को भगवद्दर्शन मान लेता है, यह मानसिक-भ्रान्ति है। अधिकांश लोग जो कहते हैं “मुझे भगवद्दर्शन हुआ है”, वे इसी भ्रान्ति को पाये हुये हैं। कोई भी सफल मेस्मेरिक किसी को ऐसा दर्शन करा सकता है। ऐसे दर्शनों में हुए आदेश और भविष्यवाणियाँ सच निकल भी सकती हैं और नहीं भी। पहली भ्रान्ति के उदाहरण में हम कह आये हैं कि मन अपनी कल्पना पर कैसे दृढ़ रहता है। वैसे ही वह यहाँ भी सत्य का आग्रह करता है। किन्तु मिथ्या निकलने पर साधक का साधन और प्रभु पर से भी विश्वास जाता रहता है।

जब तक चित्त से वासना और विकार नहीं चले जाते, तब तक भगवद्दर्शन नहीं हो सकता। भगवद्दर्शन होने पर भी चित्त में विकार उठे, तो दर्शन को भ्रान्ति ही समझना चाहिये। आपके बहिर्मन ने प्रबलता से एक इच्छा का प्रकाश किया, अतः अन्तर्मन में जो उसके अनुकूल संस्कार थे, उन्हें उसने मूर्तिमान कर दिया। यह भगवद्दर्शन नहीं, यह मानसिक-भ्रान्ति है। यह विघ्न है, योगदर्शन ने इसी का संकेत किया है। इससे बहुत सावधान रहना चाहिये।

कुछ विशेष

: २० :

मनोविज्ञान के प्रायः अधिकांश भागों पर विचार किया गया, किन्तु कुछ विषय अब भी छूट गये हैं, मनोविज्ञान की कुछ उलझनों पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ सका है। प्रकृति में कुछ पूर्ण तो होता नहीं, पर मनुष्य अपनी ओर से पूर्ण करने का प्रयत्न करे, यह उसका कर्तव्य है। शेष रहे विषयों पर हम संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

मानसिक क्रियाओं का मूल है विश्वास। हमारी मानसिक स्थिति कुछ ऐसी होती है कि हम स्वयं अपने में अविश्वास के कीटाणुओं को स्थान देते हैं। एक व्यक्ति आज्ञा देकर हिमालय को सम कर सकता है, पर इसके लिये उसे अविचल विश्वास होना चाहिये कि “मेरी आज्ञा का पालन होगा।” हम आज्ञा देते हुए भी यह सोचते रहते हैं कि “हमारी आज्ञा का पालन असम्भव है, संदिग्ध है।” अतः वह आज्ञा व्यर्थ जाती है।

अविश्वास के संस्कार मनुष्य में बहुत गहरे होते हैं, वह स्वयं उन्हें नहीं समझ पाता। पूर्ण विश्वास मन की पूर्ण विकसित अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है, जब कि “मैं ही हूँ” यह प्रत्यक्ष हो जाय। स्वामी राम की भाँति कोई भी पूर्ण आत्म-विश्वासी घोषणा कर सकता है - “शहंशाह दुनियाँ के, हैं मोहरे मेरी शतरंज के।” जिसे मानसिक साधनों में योग्यता प्राप्त करनी है, उसे अपने में विश्वास लाना होगा।

लोग सोचते हैं - “भला अमूर्त मन, मूर्त पर कैसे प्रभाव डाल सकता है? स्थूल वस्तुओं को मन हटा दे, ला सके - यह कैसे सम्भव है?” पर वे यह नहीं सोचते कि अमूर्त वायु मूर्त पदार्थों को अपने वेग से चाहे जितनी दूर उड़ा सकती है। आज अमूर्त विद्युत् गाड़ी खींचती है,

कपड़े धोती है, झाड़ू देती है और सब प्रकार के दूसरे कार्य करती है। जब वायु या विद्युत् अमूर्त होकर भी मूर्त वस्तुओं को प्रभावित करते हैं, तो अमूर्त मन मूर्त जगत् में कार्य करे, इसमें कोई बाधा नहीं दिखायी देती।

एक शंका का स्थल है - मन चाहे सूक्ष्म होने के कारण दीवारों को पार कर जाये, पर स्थूल वस्तुएँ तो नहीं पार कर सकतीं। वे दृष्टि से ओझल तो नहीं हो सकतीं। उनका आकार-प्रकार, तोल प्रभृति तो नहीं घट सकता। एक बन्द सन्दूक में एक आम कैसे पहुँच जाता है? एक बन्द कमरे या बॉक्स में फूल या पाउडर किस मार्ग से आता है? छायापुरुष या कोई भी मानसिक साधन या प्रेतादि साधन में ले जायी जाती हुई वस्तु, मार्ग में क्यों दिखायी नहीं देती? ले जाते, उठाते उसे कोई क्यों नहीं देख पाता? सिद्ध का स्थूल शरीर वही रहते हुए भी तौल में कम या अधिक, छोटा या बड़ा कैसे हो जाता है।

यह सब हो जाता है। इतना तो सत्य है कि विज्ञान अभी इस स्थान पर नहीं पहुँचा कि वह आकृति की लम्बाई, चौड़ाई, तौल और उसकी बनावट के तथ्य को स्पष्ट कर सके। शास्त्र कहते हैं कि सिद्धि प्राप्त पुरुष यथेच्छ रूप बदल सकता है, अदृश्य हो सकता है, पुष्प-सा हल्का हो सकता है, पर्वत-सा भारी हो सकता है, आकृति को वह चाहे जितना घटा या बढ़ा भी सकता है। आज के तर्क की अभी यहाँ तक पहुँच नहीं हुई। युक्ति के द्वारा हम इसे सम्भवतः शताब्दियों बाद समझ सकेंगे।

वस्तु की आकृति, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, ऊँचाई और तौल आदि, वस्तुतः कोई स्थिर आधार नहीं रखतीं। यद्यपि हम ऐसा देखते और समझते हैं, पर मन की जिस स्थिति के कारण उनका निर्माण हुआ है, उस स्थिति में परिवर्तन कर देने पर उनमें भी परिवर्तन हो सकता है। सुनते हैं कि वैज्ञानिकों ने एक ऐसे एलक्ट्रॉन का पता लगाया है जिस पर अधिकार होते ही प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन किये बिना उसे छोटा, बड़ा, हल्का या भारी किया जा सकेगा। समय ही बतायेगा कि वह एलक्ट्रॉन क्या और कैसा है?

एक सूक्ष्म शक्ति जब स्थूल शक्ति को आवृत्त करती है, तो उसे

सूक्ष्म बना लेती है। उस सूक्ष्म शक्ति के पृथक् होते ही वह स्थूल वस्तु पुनः अपने आकार में आ जाती है। जैसे जल अग्नि से अभिभूत होने पर वाष्प हो जाता है और अग्नि का अंश निकल जाने पर पुनः जल हो जाता है। मन जब किसी स्थूल पदार्थ को आवृत्त करता है, तो वह भी सूक्ष्म हो जाता है, अतः वह मार्ग से दृष्टि नहीं पड़ता और बन्द सन्दूक में भी पहुँच जाता है। ज्यों ही मन उससे पृथक् होता है, वह पदार्थ अपने पूर्वरूप में आ जाता है।

मन आकृति और स्वभाव का कारण है। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई और तौल प्रभृति भी मन के द्वारा आती हैं और मन उनमें परिवर्तन कर सकता है। इस बात को समझने के लिये यह समझना होगा कि आकृति क्या है? आकृति-विज्ञान के अध्याय में हम कह चुके हैं कि आकृति स्वभाव का परिणाम है, उसे यहाँ स्पष्ट करना भी आवश्यक है।

आकृति के विषय में आजकल दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। एक मत कहता है कि जलवायु, शीत-उष्ण प्रदेश के अनुसार वहाँ के लोगों का रंग, ऊँचाई और आकार होता है। दूसरा मत है कि आकृति का कारण जलवायु नहीं, स्वभाव हुआ करता है। एक ही नगर में चिरकाल से बसने वाले एक व्यक्ति की दो सन्तानों में से एक काली और दूसरी गोरी होती है। एक लम्बा और दूसरा छोटा व्यक्ति, एक ही स्थान पर पाया जा सकता है।

आकृति-विज्ञान का एक अंश है सामुद्रिक-शास्त्र। इसमें बताया गया है कि इस रंग, इस कद, ऐसे हाथ-पैर प्रभृति का मनुष्य अमुक स्वभाव का होता है। पाश्चात्य देशों में भी इस प्रकार आकृति से स्वभाव निर्णय की प्रथा बलिष्ठ है। वे लोग तो आकार के ऊपर से जातियों के स्वभाव का भी निर्णय करते हैं।

जलवायु का प्रभाव आकृति पर नहीं पड़ता, यह बात मानी नहीं जा सकती। पर यह स्वभाव के अनुसार आकृति की विरोधी नहीं है। जलवायु का प्रभाव स्वभाव पर पड़ता है और वह आकृति का निर्माण करता है। गर्म देशों के लोगों में पित्त की प्रधानता होगी, उन्हें उष्ण वस्तुएँ उपयोग

करने में हिचक होगी। उनके वस्त्र, भोजनादि गर्मी को देखते हुए होंगे। ठंडे देशों के लोगों में कफ की प्रधानता होगी, उनके भोजन और वस्त्र उष्ण होंगे। नम देशों के निवासियों में वायु की प्रधानता होगी।

मन का निर्माण भोजन से होता है, उसमें संस्कार माता-पिता से और आसपास की परिस्थिति से पड़ते हैं। अतः परिस्थिति के अनुसार स्वभाव हो जाता है, जो आकृति का निर्माता है।

जहाँ सर्द या गर्म देशों के लोगों की आकृति में बहुत कुछ रंगादि की समानता होती है, वैसे ही उनके स्वभावों में भी बहुत कुछ समानता होती है। गर्म देश का निवासी किसी ठंडे देश में रहने लगे या ठंडे देश का गर्म देश में रहने लगे, तो उसकी सन्तान उसके वर्तमान निवास के निवासियों की भाँति न होगी। वह प्रायः पूर्व निवास के लोगों और माता-पिता के अनुरूप होगी क्योंकि माता-पिता के संस्कार जो उसमें आयेंगे, पूर्णतः वर्तमान निवास के लोगों की भाँति न होंगे। जब तक उस व्यक्ति की वंश परम्परा का भोजन, वस्त्र, स्वभावादि बदल नहीं जाता, तब तक उसकी सन्तानों की आकृति नहीं बदलेगी। संस्कार और स्वभाव में जैसे-जैसे परिवर्तन होता जायेगा, आकृति में परिवर्तन होता जायेगा।

दो स्वभाव और संस्कार की जातियाँ एक ही देश में रहते हुए भी आकृति में पृथक्ता रखती हैं। अमेरिका में प्रायः एक ही समय योरोप के भिन्न-भिन्न देशों के लोग जा बसे, पर उनकी सन्तति की आकृति में अब तक अन्तर है। भारत में हिन्दू और मुसलमान आकृति से पहचाने जा सकते हैं, यदि मुसलमान कोई खानदानी मुसलमान हो; उसकी एक दो पीढ़ी से ही यह धर्म न ग्रहण किया गया हो और उसके पूर्वजों ने हिन्दू रहन-सहन न बना लिया हो। आकृति का यह भेद स्वभाव की विभिन्नता से होता है। चिरकाल से दूसरे देशों में रहने वाली आर्य-जाति की पहचान उसकी आकृति से होती है। देश की स्थिति उसे अब भी बदल न सकी, क्योंकि उनके अन्तर्मन में परंपरागत संस्कार अब तक कुछ न कुछ चले आ रहे हैं।

पिता और माता के संस्कार पुत्र में आते हैं। गर्भस्थ बालक पर

माता के विचार, रहन-सहन, भोजन तथा सुख-दुःखादि का प्रभाव पड़ता है। गर्भाधान के समय तक पिता में जो संस्कार होते हैं और उस समय जो संस्कार प्रबल होते हैं, वे वीर्य के साथ गर्भ में पहुँचते हैं। माता के विचार, संस्कार, भोजनादि उसे प्रभावित करते हैं। इस प्रभाव से प्रभावित होने पर वीर्यस्थ पिता के संस्कारों का जो रूप होता है, वही बच्चे की आकृति का निर्माण करता है। एक ही देश, एक ही जाति, एक ही स्थान के लोगों में कभी-कभी ऐसी सन्तति देखी गयी है, जो जलवायु की दृष्टि से उस आकृति की नहीं होनी चाहिए। एक ही पिता की सन्तानों में भी महान् अन्तर हो जाता है। इस अन्तर का कारण पिता के विचारों तथा माता के विचार, भोजन एवं रहन सहन का परिवर्तन है।

प्रायः देखा गया है कि जुड़वां उत्पन्न हुये बच्चों की आकृतियाँ समान होती हैं। उनमें बहुत कम अन्तर होता है। जैसे एक वृक्ष के दो पत्ते ठीक एक सदृश नहीं होते, वैसे ही उन बच्चों में भी कुछ अन्तर होता है। वे उदर में एक ही बिन्दु पर तो होते नहीं। किसी पर किसी अंतड़ी का अधिक दबाव पड़ जाता है, किसी पर नहीं पड़ता। किसी की बगल में पित्त-कोष होता है और किसी के पास कफ-कोष। माता जिस बगल लेटेगी, उधर के बच्चे पर कुछ दबाव पड़ेगा। यही सब परिस्थितियाँ उन बच्चों की आकृति में भिन्नता ला देती हैं।

मनोविज्ञान बतलाता है कि जन्म से पुरुष पिता के संस्कारों तथा माता के विचार, भोजनादि के प्रभाव के अतिरिक्त कोई दूसरा संस्कार लेकर नहीं आता। यदि उसमें से यह निकाल दिया जाय, तो सब पुरुष जन्म से समान होते हैं। उनमें कोई कवि की प्रतिभा, कोई महापुरुषों की क्षमता या कोई माध्यम की योग्यता लेकर नहीं उत्पन्न होता।

“कल्याण” के “मानसांक” में अयोध्या के श्री बिन्दु ब्रह्मचारी जी ने इस विषय के पाश्चात्य अन्वेषण का उदाहरण दिया है – एक स्त्री की दो जुड़वां उत्पन्न हुई लड़कियों को एक ही भोजन दिया गया। उन्हें सदा एक साथ रखा गया। वे एक कमरे में रहती थीं और उनके भोजनादि का प्रबन्ध भी एक ही नौकर करता था। उन्हें एक ही प्रकार की शिक्षा दी

गयी। अन्त में उन्हें एक प्रश्न दिया गया और उन्हें पृथक्-पृथक् कमरों में उत्तर लिखने को बैठा दिया गया। निरीक्षकों ने आश्चर्य से देखा कि उनके उत्तर, उत्तर की भाषा ही नहीं बल्कि विराम, बिन्दु प्रभृति चिह्न भी एक ही प्रकार के हैं।

यह जांच ठीक न भी होती, तो कोई सिद्धान्त न बनता। दो व्यक्तियों की मानसिक परिस्थिति एक रखना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। तनिक भी विचार मन के पूर्व संस्कारों को प्रभावित करके एक क्रान्ति मचा दे, यह संभव है। कल्पना कीजिये कि उपरोक्त जाँच के लिये चुनी लड़कियों में से एक का ध्यान एक समय किसी ओर, जैसे सिनेमा के विज्ञापन के बाजे की ओर या कमरे में लगे मकड़ी के जाले की ओर जाता है, और दूसरी का नहीं। इस प्रकार का कोई संस्कार केवल एक में पहुँचना कठिन नहीं। ऐसे संस्कारों को रोका नहीं जा सकता। जिसमें वह संस्कार पहुँचता है, उसके पुराने संस्कारों को प्रभावित करता है। दूसरी में वैसा कोई परिवर्तन नहीं हो पाता, यहीं से दोनों के स्वभाव की धारा दो हो जाती हैं।

इस प्रकार की कोई बात न होने से, जाँच का परिणाम ठीक निकला और उसने बताया कि मनुष्य जन्म से कुछ लेकर नहीं आता। प्राक्तन संस्कार जैसी कोई वस्तु यदि जीव के साथ आती है, तो वह पिता के संस्कार और माता के संस्कारों से आती होगी। पिता के रोग पुत्र में आते हैं, अतः पिता के संस्कार भी आते हैं, यह तो मानना ही होगा। गर्भ में बच्चे पर माता के आहार और विचार का प्रभाव पड़ता है।

उत्पन्न होने के पश्चात् परिस्थिति जैसी मिलती जाती है, माता-पिता आदि से लाये संस्कारों में वैसे परिवर्तन होते जाते हैं। इसी प्रकार जीवन किसी ओर ढलता है। माता के भोजन का प्रभाव दूध पीने तक बच्चे पर पड़ता है। फिर उस पर स्वयं के भोजन का प्रभाव पड़ता है। अपने आसपास होने वाली घटनाओं, साथियों के संग, बड़ों के चरित्र, उनकी शिक्षा और अध्ययन - इन सबके द्वारा पुरुष के जीवन का निर्माण होता है।

कभी कोई एक ही घटना या बात का संस्कार मन में इतना दृढ़ हो जाता है कि वह जीवन की दिशा बदल देता है। जैसे एक व्यक्ति ने किसी को मरते देखा, उसे मृत्यु से तीव्र भय लगा और वह साधन में लग गया। एक व्यक्ति अपमानित हुआ, उसने बदला लेने का निश्चय किया। बदला लेने की भावना ने उसे अन्त में डाकू बना दिया।

प्रकृति से जो बुद्धि, लगन, वीरता, विचारशीलता, भावुकता प्रभृति शक्तियाँ मिलती हैं, वे सब में समान होती हैं। कोई प्रतिभाशाली और कोई मूर्ख, कोई भावुक और कोई हृदयहीन, कोई लगन का और कोई चंचल नहीं होता; पर परिस्थिति के अनुसार उसमें जैसे संस्कार पड़ते जाते हैं, वे उसकी इन शक्तियों को एक ओर चला देते हैं। संस्कारों के अनुसार वह शक्ति किसी विशेष ओर प्रवाहित होने लगती है। परिस्थिति जिन्हें बराबर, एक ओर चलने का अवसर देती है वे वीर, कवि, बुद्धिमान् और महापुरुष हो जाते हैं और दूसरे जिन्हें विरुद्ध परिस्थिति घसीटती है वे मूर्ख, हृदयहीन कहे जाते हैं। परिस्थिति ही पापी, पुण्यात्मा, महापुरुष, मूर्ख तथा और भी जो कुछ कोई हो सकता है, उसे बनाती है।

एक व्यक्ति सुन्दर पर्वत माला देखकर गद्गद हो उठता है; पर दूसरे को वहाँ पत्थरों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखायी पड़ता। पर इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरे में भावुकता नहीं। सजी हुई सेना देखकर सम्भव है कि वह उससे भी अधिक प्रसन्न हो। एक चित्रकार एक चित्र में जो सौन्दर्य देख पाता है, वह दूसरे को रंगों से पुता कागज जान पड़ता है। पर दूसरे में कला का अभाव नहीं, गम्भीर युक्तिपूर्ण काव्य की एक पंक्ति उसे लट्टू कर सकती है।

आप जिसे कायर या डरपोक समझते हैं, वे अपने प्रिय पुत्र या प्राण पर आपत्ति आने पर खाली हाथ, सिंह से भिड़ पड़े, यह असम्भव नहीं। युद्ध का प्रसिद्ध वीर अपनी प्रेमिका की कठोर भ्रू देखते ही काँप उठता है। वीरता और भय दोनों में हैं, पर उनका स्रोत संस्कारों ने भिन्न-भिन्न दिशा में बाँट रखा है।

संसार का सबसे बड़ा दार्शनिक नहीं जानता कि अखाड़े में कौन से

दाव से प्रतियोगी परास्त होगा। वह इस विषय में सर्वथा मूर्ख है। आप जिसे मूर्ख कहते हैं, कुछ ऐसे विषय हैं, जिनमें उसकी बुद्धि सीमा की चतुरता दिखाती है। जिसे आप चंचल विद्यार्थी कहते हैं, वह पढ़ने में भले चंचल हो, पर खेल में आप उसकी तन्मयता को प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

कुछ ऐसे प्रारब्ध के मारे होते हैं कि उन्होंने जन्म से जो स्वाभाविक रुचि पायी है, उसके विकास का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। उन्हें संसार में ठीक विरोधी परिस्थिति मिलती है। उनकी बुद्धि, प्रतिभा शक्ति कुछ भी उधर नहीं लग पाती। व्यक्तित्वहीन, अर्द्धपागल से, दूसरे की आज्ञाओं के यन्त्र और जीवन-निर्वाह के लिए दूसरों पर आश्रित ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं। प्रायः सभी कहीं वे पाये जाते हैं।

यदि अभिभावक बच्चे की ठीक रुचि को समझ सकें और उसे उसके अनुकूल परिस्थिति तथा उत्तेजन दें, तो वह कभी इस उपरोक्त दीन दशा में न पहुँचे। यदि उसकी मानसिक स्थिति को संसार में विकास का अवकाश मिले, तो प्रत्येक व्यक्ति महापुरुष हो सकता है। महापुरुष में जो कुछ होता है, वह प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के साथ लाता है।

मानसिक शक्ति के साधन विशेषकर मेस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म का यही उद्देश्य था कि उसके द्वारा बालकों की मानसिक स्थिति का अध्ययन किया जाये। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति का ज्ञान स्पष्टतः सम्मोहित दशा में हो सकता है। जागृत दशा में इसका पता लगा लेना बहुत अधिक विज्ञान-मनोवैज्ञानिक के लिये ही सम्भव है। सम्मोहित दशा में स्वाभाविक प्रवृत्ति का पता लगाकर, बच्चे को उसी प्रकार के कार्यों में लगाने पर वह अच्छा, धीर, लगनशील और प्रतिभाशाली सिद्ध होगा।

स्वाभाविक प्रवृत्ति अधोगामिनी या उर्ध्वगामिनी नहीं होती। परिस्थिति उसे ऐसी बना देती है। रुचि को जानकर अनुकूल बर्ताव से उसे यथेच्छ उच्च किया जा सकता है। एक व्यक्ति की रुचि विनोदी है। कुसंग में पड़कर वह जुआरी हो जायगा। उसे विश्वविख्यात खिलाड़ी बनाया जा सकता है। एक लड़का रहस्यभेद में रुचि रखता है। यदि उसे अनुकूल परिस्थिति न मिले तो वह चोरी करने लगेगा। पर ठीक ढंग से उसकी

रुचि का उपयोग हो तो वह प्रसिद्ध जासूस बनेगा।

आज जो डाकू हैं, वे वीर सैनिक बन सकते थे। जो गप्पे लड़ाते हैं, वे कवि या दार्शनिक बनाये जा सकते थे। जिन्हें आलसी कहा जा रहा है, वे बैठकर बड़ी लगन से कोई कार्य कर सकते थे। कामी कहाने वाले, परिस्थिति मिलने पर बड़े कुशल कलाकार बनते। पर रुचि के ठीक उपयोग न होने से उनका जीवन नष्ट हो गया।

बहुधा लोग अपनी रुचि को स्वयं ही नहीं समझ पाते। मनुष्य को सबसे पहले यह देखना चाहिये कि वह चाहता क्या है? परिस्थिति को भूल जाओ, एकान्त में बैठकर मन को कल्पना करने के लिये छोड़कर देखो कि अधिक से अधिक वह किस बात तक पहुंचता है? परिस्थिति मनुष्य को अवश्य बनाती है, परन्तु मनुष्य परिस्थिति को बना सकता है। मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह परिस्थिति पर विजय पाये। कितनी भी विपरीत परिस्थिति हो, पर स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुकूल उच्च उद्देश्य लेकर, दृढ़ता से प्रयत्न करनेवाला और सदैव अनुकूल स्थिति से लाभ उठाने को सतर्क रहनेवाला, अवश्य अपने लक्ष्य को पायेगा। उसका जीवन महान् बनकर रहेगा।

परिस्थिति और प्रवृत्ति की प्रधानता का वर्णन यह कभी अर्थ नहीं रखता कि वही सब कुछ हैं। मन की शक्ति की प्रधानता का भी यह अर्थ नहीं कि विश्व में केवल मन की ही एक शक्ति है। हमें विश्वनियन्ता को नहीं भूलना चाहिये। विश्व की प्रधान शक्तियों को भी हम भूल नहीं सकते।

हम व्यष्टि और समष्टि के परिचय में बता आए हैं कि यह शरीर सहस्रों कीटाणुओं की समष्टि है। इसी प्रकार हम इस विशाल विश्वरूप शरीर के कीटाणु हैं। उस सर्वेश के लिये यह ब्रह्माण्ड एक कीटाणु से अधिक नहीं। उसके एक-एक रोमकूप में करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं।

हमारे पास परीक्षा का साधन होता, तो हम देख पाते कि हमारे शरीर के प्रत्येक कीटाणु में शरीर को नष्ट कर देने, स्वस्थ कर देने या परिवर्तित कर देने की शक्ति है। है वह शक्ति सीमित; वह शरीर से बाहर कुछ नहीं कर सकती। साधारण कीटाणु की अपेक्षा ज्ञान-सूत्रों के केन्द्र

विशेष अधिक शक्ति रखते हैं और वे कीटाणुओं को यथेच्छ प्रभावित कर सकते हैं।

हमारी भी ठीक यही दशा है। हम अपने ब्रह्माण्ड में ही सब कुछ करने की शक्ति रखते हैं। हमारी मानसिक शक्ति यद्यपि विश्व के निर्माण और प्रलय में समर्थ है, पर वह इस विश्व तक सीमित है। वह सर्वेश सर्वशक्तिमान् है। हमारे शरीर की भाँति विश्व में भी शक्ति के केन्द्र हैं। हम उन केन्द्रों को देवता कहते हैं। ये हमें प्रभावित करने में समर्थ हैं, यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिये।

यह ठीक है कि शरीर का प्रत्येक अणु शरीर को नाश करने की शक्ति रखता है, पर शक्ति रखने मात्र से वह ऐसा करने में समर्थ नहीं। उससे अधिक शक्ति के केन्द्र हैं, सबसे बड़ी शक्ति तो समस्त शरीर के अधिष्ठाता मन की है। यदि कोई अणु अपनी शक्ति से शरीर को हानि पहुँचाने लगे, तो उच्च केन्द्र उसे दण्ड देंगे। वह शक्तिहीन कर दिया जायेगा। किसी कारण से वह उच्च केन्द्रों से न दबे, तो हमें स्वयं प्रवृत्त होना पड़ेगा। चाहे जैसे - दवा से, चीरफाड़ से, कैसे भी हो, हम उसे अवश्य नष्ट कर देंगे। पर यदि वह शरीर की उन्नति करे, तो उच्च केन्द्र और हम सब, उसे सुविधा तक शक्ति देंगे।

विश्व में भी यही स्थिति है। हम संसार में अनर्थ फैलायें, तो दिव्य-शक्तियां हमारा दमन कर देंगी। जो शक्तिशाली दैत्य देवताओं से भी प्रबल हो गये, उनके लिये स्वयं विश्वेश अवतीर्ण हुये और उन्हें नष्ट कर दिया गया। जो विश्व की सेवा में अपनी शक्ति को लगाते हैं, जो संसार में सद्भाव प्रसारित करते हैं, उन्हें दैवी शक्तियां सहायता देती हैं। विश्वेश की कृपा उन्हें प्राप्त होती है।

व्यष्टि मानस का, इस प्रकार समष्टि से साम्य एवं समन्वय स्थापित करना, भारतीय मनोविज्ञान की अपनी विशेषता है। यही विशेषता उसे अध्यात्म की ओर प्रवृत्त करती है।

शब्दावली

अग्राह्य	न ग्रहण करने योग्य, rejectable
अतिलंघन	अतिक्रमण, उल्लंघन, violation
अत्यन्ताभाव	किसी वस्तु का बिल्कुल न होना, extreme absence
अद्यतनीय	आज का, आधुनिक युग का, modern
अधःपात	पतन, fall
अधिगम	जानना, learning
अधिगमन	समझने की क्रिया, learning process
अधोगामिनी	नीचे की ओर चलने वाली, declining
अनवरत	लगातार, continuously
अनावृष्टि	वर्षा का अभाव, सूखा, drought
अनुज्ञाकारी	निर्देश देने वाला, authority
अनुभूत	जिसका अनुभव हुआ हो, felt
अनुवृत्ति	दोहराना, repetition
अन्वेषक	खोजने वाला, explorer
अपर	क्रम से, in sequence
अपरोक्ष	जो सामने हो, direct
अपवाद	जो सामान्य नहीं, exception
अभिन्न	जहाँ कोई भिन्नता न हो, identical
अभिप्रेत	जिसकी इच्छा की गई हो, प्रिय, intended
अभिभूत	बहुत अधिक प्रभावित, overwhelmed
अभिव्यंजक	प्रकट करने वाला, expressive
अभिव्यक्त	प्रकट, प्रकाशित, manifest

अभीष्ट	जो हम चाहते हैं, इच्छित, desired
अवान्तर	दूसरा, अन्य, secondary
असंबद्ध	जिनका आपस में मेल न हो, irrelevant
अहर्निशी	दिन और रात, हर समय, around the clock
आच्छादन	ढकना, cover
आमाशय	जठर, पेट, stomach
आर्षशास्त्र	ऋषियों द्वारा रचित धर्मग्रंथ, authored by sages
आविर्भाव	प्रकट होना, उत्पन्न होना, सामने आना, emergence
आविर्भूत	जो उत्पन्न या पैदा हुआ हो, manifested
आवृत्त	सब दिशाओं से किसी वस्तु द्वारा ढक लिया जाना, enveloped
उच्छृंखलता	अनियन्त्रण, असंयम, अनुचित व्यवहार, disorderliness
उत्तेजन	बढ़ावा, provocation
उत्थान	ऊपर उठना, बढ़ना, rise up
उद्दीप्त	उत्तेजित किया हुआ, excited
उद्धरण	किसी दूसरे लेख को ज्यों का त्यों रखना, reference
उद्भव	प्रकट होना, emergence
उद्यत	उतारू, eager
उद्विग्न	आकुल, distressed
उन्मनी	हठयोग की एक मुद्रा, thoughtless state
उपकरण	औजार, tool
उपार्जन	कमाना, to earn
उपार्जित	कमाया हुआ, earned
उर्ध्वगामिनी	ऊपर की ओर चलने वाली, ascending
एकीभूत	जो मिलाकर एक हो गया हो, unified
एतदर्थ	इसलिये, इसके लिये, for this purpose
कलुषित	दूषित, दुष्ट, अपवित्र, sinful

कार्याधिक्यता	कार्य की अधिकता, overloading
कुतूहल	उत्सुकता, curiosity
कृमिपूर्ण	कीड़ों से भरा हुआ, full of worms
क्षोभ	खलबली, agitation
चिरविस्मृत	बहुत समय से भूला हुआ, long forgotten
च्युत	गिरा हुआ, fallen
छुद्र	नीच, ओछा, abase
जगदाधार	जगत का आधार, परमात्मा, God
जगन्नियन्ता	जगत का नियंत्रण करने वाला, परमात्मा, God
जलप्लावन	पानी की बाढ़, inundation
जलवृष्टि	ओले पड़ना, hailstorm
ज्ञातव्य	जानने योग्य, जिसे जानता हो, comprehensible
तटस्थ	किसी का पक्ष नहीं लेता, neutral
तन्तु	नाड़ी, vein
तादात्म्य	एक समान हो जाना, चिंतन द्वारा ईश्वर का आत्मा से संयोग, oneness
तारतम्य	संयोग, मेल, harmony
तिक्त	तीखा, चरपरा, blistering
तितिक्षा	सहनशीलता, endurance
त्याज्य	छोड़ने योग्य, discardable
दत्तचित्त	कार्य में रमा हुआ, engrossed
दृष्टान्त	उदाहरण, example
दृष्टिगोचर	दिखाई देने वाला, visible
दैवात्	अनजाने (दैवी) कारणों से, devine act
द्रुत	शीघ्रतापूर्वक, बहुत तेज, with great speed
निवृत्ति	मुक्ति, छुटकारा, withdrawal
परलोकगत	जिसकी मृत्यु हो गयी हो, deceased

परिव्याप्त	छाया हुआ, pervading
पश्चात्त्य	पश्चिमी देशों का, western
पिपासा	इच्छा, प्यास, thirst
पूर्वकृत	पहले किये गए, committed previously
पृथक्ता	अलग होने की क्रिया अवस्था या भाव, discreteness
पृथक्	अलग, जुदा, distinct
प्रकरण	विषय सम्बन्धी प्रसंग, episode
प्रतिकार	किसी को रोकना, बदला, resistance
प्रतिगामी	विपरीत चलनेवाला, retrogressive
प्रतिघात	आघात के बदले किया गया आघात, backlash
प्रतिफलित	प्रातिबिंबित, reflected
प्रतिबन्धक	रोकने वाला, restrictive
प्रतीति	जानकारी, दृढ़ विश्वास, realization
प्रभृति	आदि , इत्यादि, etcetera
प्रयोक्ता	प्रयोग करने वाला, experimenter
प्रविष्ट	भीतर पहुँचा हुआ, entered
प्रवृत्त	किसी कार्य में लगा हुआ, inclined towards
प्रवृत्ति	मन का किसी विषय की ओर लगाव, tendency
प्रस्फुटित	विकसित, प्रकट, उगना, bloomed
प्राक्तन	पूर्व जन्मों से मिला हुए, previous birth
प्रादुर्भाव	विशेष व्यक्ति या शक्ति का प्रकट होना, manifestation
प्राबल्य	प्रधानता, प्रबलता, तेजी, predominance
बलिष्ठ	शक्तिशाली, बलवान, powerful
बहुधा	ज़्यादातर, often
भगवदिच्छा	भगवान की मर्ज़ी से, god's will
भावी	भविष्यत् काल, प्रारब्ध, future
भित्ति	दीवार, wall

भ्रान्त	गलत धारणा, delusional
भ्रू	भौंह, eyebrow
भ्रूमध्य	भौहों के बीच, between the eyebrows
मनोनिग्रह	मन को वश में रखना, mental restraint
महत्तत्त्व	जीवात्मा, the great essence
यथेच्छ	इच्छा के अनुसार, as one chooses or pleases
लुब्ध	मोहित, आसक्त, allured
वंशगत	वंश परंपरा से मिला हुआ, inherited
विक्षिप्त	जिसका दिमाग ठिकाने न हो, crazy
विक्षुब्ध	अशान्त, agitated
विज्ञ	विद्वान्, expert
विशृंखल	जो क्रम में न हो, अस्त-व्यस्त, disorderly
विश्वनियन्ता	विश्व का नियंत्रण करने वाला, परमात्मा, God
वृत्ति	आदत, स्वभाव, व्यवहार, instinct
वैयक्तिक	व्यक्तिगत, personal
व्यवच्छेद	विभाजन, खंड, division
व्यष्टि	जीव, individual
व्याप्त	भरा हुआ, सर्वत्र फैला हुआ, pervaded
शक्य	संभव, possible
शिरोजाल	नसों का जाल, network of nerves
शृंखलित	सिलसिले वार, sequentially
श्रान्त	परिश्रम से थका हुआ, fatigued
श्रान्ति	थकावट, fatigue
श्वेतवस्त्रावृता	सफ़ेद वस्त्र पहने हुए, covered in white clothes
संघीभाव	एक साथ होने का भाव, sense of union
संतप्त	पीड़ित, आतंकित, agony
सचेष्ट	जो प्रयत्न कर रहा हो, प्रयत्नशील, conscious

सदृश	समान, एक जैसा, identical
सन्तति	संतान, offspring
समग्र	पूरा, संपूर्ण, holistic
समाष्टि	सम्पूर्ण ब्रान्ड, universe, collectiveness
समुच्चय	सब मिला कर, totality
सम्बद्ध	संबंध रखने वाला, related
साहचर्य	संग, साथ, companionship
सृष्टि	संसार, universe
स्वतः	अपने आप, oneself, automatically
हस्तक्षेप	दखल देना, interference

* * *

